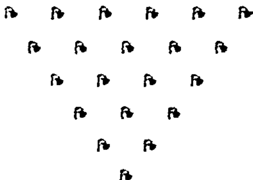
प्रकाशक—
नाथूराम प्रेमी,
हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,
हीराबाग, पो० गिरगांव बम्बई।



मुद्रक—
मंगेश नारायण कुलकर्णी,
कर्नाटक प्रेस,
नं० ४३४, ठाकुरद्वार, बम्बई।

ग्रन्थ-परिचय ।

इस संग्रहमें चार ग्रन्थ प्रकाशित किये जाते हैं—१ प्राकृत भावसंग्रह, २ संस्कृत भावसंग्रह, ३ भाव-त्रिभङ्गी और ४ आस्रव-त्रिभङ्गी। इन चारोंके सम्बन्धमें हम जो कुछ बातें जान सके हैं, वे संक्षेपमें नीचे दी जाती हैं:—

१-भाव-संग्रह ।

इसके कर्ता श्रीविमलसेन गणधर (गणी) के शिष्य आचार्य देवसेन हैं और वे संभवतः नयचक्र और दर्शनसार आदिके कर्तासे अभिन्न हैं। नयचक्रकी भूमिकामें हम इनके विषयमें विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं। विक्रम संवत् ९९० में उन्होंने दर्शनसारकी रचना की थी, अतएव ये विक्रमकी दसवीं शताब्दिके विद्वान् हैं। अब तक इनके बनाये हुए दर्शनसार, तत्त्वसार, आराधनासार, नयचक्र और यह भावसंग्रह इस तरह पाँच ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं*। ये पाँचों प्राकृतमें हैं। ज्ञानसार और धर्मसंग्रह आदि और भी कई ग्रन्थ आपके बनाये हुए सुने जाते हैं; परन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। इनकी खोज होनी चाहिए।

दो हस्तलिखित प्रतियोंके आधारसे इस ग्रन्थका संशोधन कराया गया है। इनमेंसे पहली कर्णाटक प्रति जयपुरस्थ पाटोदी-मन्दिरके सरस्वती-भंडारसे पं० इन्द्रलालजी शास्त्रीद्वारा प्राप्त हुई और दूसरी खसंज्ञक प्रति पूनेके 'भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट'से+। पहली प्रति 'ज्येष्ठ सुदी १२ शुक्र संवत् १५५८' की लिखी हुई है और बहुत ही शुद्ध है। दूसरी प्रति ग्रन्थ लिखानेवालेकी एक विस्तृत प्रशस्तिसे युक्त है और बहुत ही अशुद्ध है। प्रशस्तिसे मालूम होता है कि यह प्रति वि० संवत् १६२७ में खण्डे-लवाल जातिके एक गोधागोत्रवाले कुटुम्बकी ओरसे 'अष्टाह्निकव्रतके उद्याप-

---

* इनमेंसे 'आराधनासार' माणिकचन्द-ग्रन्थमालाका छठा और 'नयचक्र' सोलहवाँ ग्रन्थ है। तत्त्वसार तेरहवें 'तत्त्वानुशासनादि-संग्रह' के अन्तर्गत है। 'दर्शनसार' जैनग्रन्थरत्नाकरकार्यालय द्वारा प्रकाशित हुआ है।

+ नं० १४६१, सन् १८८६–९२।

नार्थं' लिखवाई जाकर सोम नामक ब्रह्मचारीको दान की गई थी। जयपुर राज्यके मोजाबाद नामक स्थानमें यह ग्रंथ लिखा गया था। प्रशस्तिकी नकल दी जाती है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इसकी संस्कृत बहुत ही अशुद्ध है:—

"इति भावसंग्रहः समाप्तः। श्लोकसंख्या ९६०। सम्पूर्ण। संवतु १६२७ वर्षे फाल्गुन वदि ५ स्वातिनक्षत्रे बुधवारे श्री आदिजिनचैत्यालये मोजाबादिस्थाने राजश्रीमानसिंघकुछाहराज्ये श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुंदकुंद आचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचंद्रदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीजिनचंद्रदेवा तत्पट्टे भट्टारकश्रीप्रभाचंद्रदेवा तत्सिक्ष मंडलाचार्यश्रीधर्मचंद्रदेवा तत्सिक्ष मंडलाचार्यश्रीललतकीर्ति तत्सिक्षमंडलाचार्य चंद्रकीर्तिदेवा तदाम्नाये षंडेलवालान्वये गोधागोत्रे सा. ठाकुर तत्भार्या लाछी तत्पुत्र च्यारि प्रथ. तेजा दु. केल्हा ति. पैराज चु. रेंवा। तेजाभार्या च्यागुल दु. लक्ष्मी पु. हठु। केल्हा केलवदे पुत्र नरयण दु. नरचंद त्रि. गोपाल चु. सारंग। पैराज पैसरि पु. हेमा। सा. वोहिथ भार्या वहरंगदे तत पुत्र देवसी एतेषां इदं सास्त्रं भावसंग्रहं लिषायतं धनार्थी अष्टाह्नकव्रत उद्यपनार्थं ब्र. सोमाय दत्तं।"

यह प्रति पहली प्रतिकी अपेक्षा विलक्षण है। इसके प्रारंभिक अंशमें अन्य ग्रन्थोंके उद्धरणोंकी भरमार है। पहले हमारा ख्याल था कि मूलग्रन्थकर्त्ताने ही ये उद्धरण संग्रह किये होंगे; परन्तु विचार करनेसे मालूम हुआ कि नहीं, ग्रन्थकर्त्ताके बहुत बाद, किसी विद्वान लिपिकारने ही यह परिश्रम किया है। क्योंकि इसमें पं० वामदेवकृत संस्कृत भावसंग्रह तकके कई श्लोक * उद्धृत किये गये हैं और पं० वामदेव जैसा कि आगे बतलाया जायगा—विक्रमकी १६ वीं शताब्दिके विद्वान् हैं। इसी तरह यशस्तिलक चम्पूके भी अनेक पद्य 'उक्तं च' रूपमें दिये गये हैं और यशस्तिलक वि० सं० १०१६ में समाप्त हुआ है।

---

* देखिए प्राकृत भावसंग्रहके पृष्ठ २४ की टिप्पणी और संस्कृत भावसंग्रहके ६९-७०-७१ नम्बरके श्लोक।

२-भाव-संग्रह (संस्कृत)।

इसके कर्ता पं० वामदेव हैं। ग्रन्थप्रशस्तिसे मालूम होता है कि ये मूलसंघी आचार्य लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य थे और नैगम नामक कुलमें उत्पन्न हुए थे। निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चर्य नहीं जो पं० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बरसम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर, आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थजातीय हो चुके हैं।

लक्ष्मीचन्द्र नामके अनेक आचार्य हो चुके हैं। उनमेंसे पं० वामदेवके गुरु त्रैलोक्यकीर्तिके शिष्य और विनयचन्द्रके प्रशिष्य थे। ग्रन्थमें उसकी रचनाका समय नहीं लिखा है, इस लिए पं० वामदेवका निश्चित समय तो नहीं बतलाया जा सकता है, परन्तु अनुमानतः वे विक्रमकी पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दिके विद्वान् जान पड़ते हैं। उन्होंने एक जगह (पृ० १९६ में) 'उक्तं च जिनसंहितायां' लिख कर एक श्लोकार्ध उद्धृत किया है। मालूम नहीं, यह कौनसी जिनसंहिता है। यदि भट्टारक एकसन्धिकी जिनसंहिता है—जिसका रचनाकाल विक्रमकी चौदहवीं शताब्दि है—तो यह स्पष्ट है कि भावसंग्रह इसके पीछे किसी समय बना है।

स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी संस्कृत-ग्रन्थसूचीमें प० वामदेवजीके बनाये हुए प्रतिष्ठासूक्तसंग्रह, तत्त्वार्थसार, त्रिलोकदीपिका, श्रुतज्ञानोद्यापन, त्रिलोकसारपूजा और मन्दिरसंस्कारपूजा नामक छः ग्रन्थोंके नाम दिये हैं। यदि इन ग्रन्थोंमेंसे एक दो ग्रन्थ ही मिल जावेंगे तो ग्रन्थकर्ताका समय बहुत कुछ निर्णीत हो जायगा।

यह भावसंग्रह प्रायः प्राकृत भावसंग्रहका ही संस्कृत अनुवाद है। दोनों ग्रन्थोंको सामने सामने रखकर पढ़नेसे यह बात अच्छी तरह समझमें आ जाती है। यद्यपि पं० वामदेवजीने इसमें जगह जगह अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि किये हैं, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वतंत्र ग्रन्थ है। शिष्टताकी दृष्टिसे अच्छा होता, यदि पं० वामदेवजीने अपने ग्रन्थमें यह बात स्वीकार कर ली होती।

इस ग्रन्थका संशोधन दो प्रतियोंके आधारसे किया गया है, जिनमेंसे एक तो चौपाटीके स्वर्गीय सेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारमें है—जो

इससे कम ३०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई होगी* और दूसरी [illegible] कालाचौकीके पास है और जिसे पं० [illegible] वि० सं० १९६४में [illegible] की लिखी प्रतिपरसे लिखा था। इसमें पहली प्रति प्रायः शुद्ध है।

३ भाव त्रिभङ्गी और ४-आस्रव त्रिभङ्गी।

इन दोनों ग्रन्थोंके कर्ता एक आचार्य हैं और उनका नाम श्रुतमुनि है। जिन्होंने अपनेको अन्तिम गाथाओंमें [illegible] और शिष्यजनोंद्वारा पूजित बालचन्द्र मुनिका 'अग्रज' लिखा है। इससे मालूम होता है कि बालचन्द्र इनके गुरु भाई थे। परन्तु ये कौन थे, इसका निश्चय इन मुद्रित ग्रन्थोंसे नहीं हो सकता। तलाश करनेसे सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारसे मालूम हुआ कि आराके जैनसिद्धान्तभवनमें भावत्रिभंगीकी एक [illegible] लिखी हुई प्रति है और उसमें आगे लिखी हुई चार गाथायें इस मुद्रित प्रतिसे अधिक हैं।† इन गाथाओंसे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि पूर्वोक्त बालचन्द्र मुनि श्रुतमुनिके अनुजगुरुभ्राता थे, साथ ही और भी कई विद्वानोंका इनमें उल्लेख है जिनसे ग्रन्थकर्ताके समय-निर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। वे गाथायें ये हैं:—

"अणुवदगुरुबालेंदु महव्वदे अभयचंदसिद्धंति ।
सत्थेऽभयसूरि पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू ॥ ११७ ॥

---

* इस प्रतिके अन्तमें लिखा है—" आ० श्रीललितचंद तत शीष्य म० कोका ॥ छ ॥ म० शिवराम तत्शिष्य प० वीरभाणपठनार्थं।" ऊपर जो प्राकृत भावसंग्रहकी लेखक-प्रशस्ति दी है वह सं० १६२७ की लिखी हुई है और उस समय ललितचन्द्रके शिष्य चन्द्रकीर्ति वर्तमान थे। अर्थात् पूर्वोक्त प्रतिसे २५-३० वर्ष बाद यह प्रति लिखी गई होगी और इसी लिए हम इसे लगभग ३०० वर्ष पहलेकी समझते हैं।

† चौपाटीके स्वर्गीयसेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारके 'प्रशस्तिसंग्रह' नामक रजिस्टरमें 'भावत्रिभंगी' की दो प्रतियोंके नोट लिये हुए हैं, परन्तु उनमें भी इन प्रशस्तिकी गाथाओंका अभाव है। लेखकोंकी कृपासे सैकड़ों प्रशस्तियाँ इसी तरह लुप्तप्राय हो चुकी हैं।

सिरिमूलसंघदेसिय पुत्थयगच्छ कोंडकुंदमुणिणाहं (?)
परमण्ण इंगलेसरबलम्मि जादमुणिपहद (हाण) स्स॥ ११८॥
सिद्धंताहयचंदस्स य सिस्सो बालचंदमुणिपवरो।
सो भवियकुवलयाणं आणंदकरो सया जयऊ॥ ११९॥
सद्दागम-परमागम-तक्कागम-निरवसेसवेदी हु।
विजिदसयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरिसिद्धंति ॥१२०॥
णयणिक्खेवपमाणं जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ।
वरणिवइणिवहवंदियपयपम्मो चारुकित्तिमुणी॥ १२१॥
णादणिखिलत्थसत्थो सयलणरिंदेहिं पूजिओ विमलो।
जिणमग्गगमणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी॥ १२२॥
वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपरभाओ।
भवियाणं पडिबोहणपरो पहाचंद णाम मुणी॥ १२३॥
इति भावसंग्रहः समाप्तः।"

इन गाथाओंसे नीचे लिखे हुए आचार्योंका पता लगता है:—

१—बालचन्द्रमुनि। इन्होंने श्रुतमुनिको श्रावककी दीक्षा दी थी। आस्रवत्रिभंगीमें भी श्रुतमुनिने इनका स्मरण किया है।

२—अभयचन्द्र। ये मूलसंघ, देशीय गण, पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दान्वायके आचार्य थे और इंगलेश्वर[1] नामक स्थानके मुनियोंमें प्रधान थे। ये व्याकरण, धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि अशेष विषयोंके ज्ञाता थे और सारे अन्य वादियोंको इन्होंने जीता था। बालचन्द्र मुनि इनके शिष्य थे। श्रुतमुनिने इनसे मुनिदीक्षा ली थी और शास्त्राध्ययन भी किया था।

३—प्रभाचन्द्र। ये सारत्रय अर्थात् समयसार, पंचास्तिकाय और प्रवचनसारके ज्ञाता थे, परभावोंसे रहित थे और भव्य जनोंको प्रतिबोधित करनेवाले

---

१ कर्नाटक प्रान्तमें जैनोंका यह कोई बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है। यहाँपर अनेक आचार्य और विद्वान् हो गये हैं, अनेक आचार्योंकी निषद्यायें बनी हुई हैं, भट्टारकोंकी एक गद्दी रही है और संभवतः बाहुबलिकी भी कोई मूर्ति है। श्रवणबेल्गोलके १०८ वें लेखमें लिखा है:—

नन्दिसंघे स देशीयगणे गच्छेच्छपुस्तके।
इङ्गुलेशावलि र्जीयान्मंगलीकृतभूतलः॥ २२॥

कमसे कम ३०० वर्ष पहलेकी लिखी हुई होगी* और दूसरी पं० उदयलालजी काशलीवालके पास है और जिसे पं० अमोलकचन्दजी उड़ेसरीयने वि० सं० १९६४में महासभाके सरस्वतीभंडारको किसी प्राचीन प्रतिपरसे लिखा था। इनमेंसे पहली प्रति प्रायः शुद्ध है।

३–भाव-त्रिभङ्गी और ४–आस्रव-त्रिभङ्गी।

इन दोनों ही ग्रन्थोंके कर्ता एक आचार्य हैं और उनका नाम श्रुतमुनि है। पिछले ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें ग्रन्थकारने कामदेवके प्रभावको नष्ट करनेवाले और शिष्यजनोंद्वारा पूजित बालचन्द्र मुनिका 'जयकार' किया है। इससे मालूम होता है कि बालचन्द उनके पूज्य पुरुषोंमें थे। परन्तु वे कौन थे, इसका निश्चय इन मुद्रित ग्रन्थोंसे नहीं हो सकता। तलाश करनेसे सुहृद्वर बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारसे मालूम हुआ कि आराके जैनसिद्धान्तभवनमें भावत्रिभंगीकी एक ताडपत्रपर लिखी हुई प्राचीन प्रति है और उसमें आगे लिखी हुई सात गाथायें इस मुद्रित प्रतिसे अधिक हैं।† इन गाथाओंसे यह तो निश्चित हो ही जाता है कि पूर्वोक्त बालचन्द मुनि श्रुतमुनिके अणुव्रतदीक्षागुरु थे, साथ ही और भी कई विद्वानोंका इनमें उल्लेख है जिनसे ग्रन्थकर्त्ताके समयनिर्णयमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। वे गाथायें ये हैं:—

> "अणुवदगुरुबालेंदु महव्वदे अभयचंदसिद्धंति।
> सत्थेऽभयसूरि पहाचंदा खलु सुयमुणिस्स गुरू ॥ ११७ ॥

---

* इस प्रतिके अन्तमें लिखा है—"आ०श्रीललीतचन्द तत सीस्य ब्र० कीका ॥ छ ॥ ब्र० शिवदास तत्शिस्य पं० वीरभाणपठनार्थं।" ऊपर जो प्राकृत भावसंग्रहकी लेखक-प्रशस्ति दी है वह सं० १६२७ की लिखी हुई है और उस समय ललितचन्द्रके शिस्य चन्द्रकीर्ति वर्तमान थे। अर्थात् पूर्वोक्त प्रतिसे २५–३० वर्ष बाद यह प्रति लिखी गई होगी और इसी लिए हम इसे लगभग ३०० वर्ष पहलेकी समझते हैं।

† चौपाटीके स्वर्गीयसेठ माणिकचन्दजीके सरस्वतीभण्डारके 'प्रशस्तिसंग्रह' नामक राजिस्टरमें 'भावत्रिभंगी' की दो प्रतियोंके नोट लिये हुए हैं, परन्तु . भी इन प्रशस्तिकी गाथाओंका अभाव है। लेखकोंकी कृपासे सैकड़ों ग्र- .. प्रशस्तियाँ इसी तरह लुप्तप्राय हो चुकी हैं।

सिरिमूलसंघदेसिय पुत्थयगच्छ कोंडकुंदमुणिणाहं (?)
परमण्ण इंगलेसरबलिम्मि जादमुणिपवर(दाण)स्स ॥ ११८ ॥
सिद्धंताहयचंदस्स य सिस्सो बालचंदमुणिपवरो ।
सो भवियकुवलयाणं आणंदकरो सया जयऊ ॥ ११९ ॥
सद्दागम-परमागम-तक्कागम निरवसेसवेदी हु ।
विजिदसयलण्णवादी जयउ चिरं अभयसूरिसिद्धंति ॥१२०॥
णयणिक्खेवपमाणं जाणित्ता विजिदसयलपरसमओ ।
वरणिवइणिवहवंदियपयपम्मो चारुकित्तिमुणी ॥ १२१ ॥
णादणिखिलत्थसत्थो सयलणरिंदेहिं पूजिओ विमलो ।
जिणमग्गगमणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी ॥ १२२ ॥
वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपरभाओ ।
भवियाणं पडिबोहणपरो पहाचंद णाम मुणी ॥ १२३ ॥
इति भावसंग्रहः समाप्तः ।"

इन गाथाओंसे नीचे लिखे हुए आचार्योंका पता लगता है:—

१—बालचन्द्रमुनि । इन्होंने श्रुतमुनिको श्रावककी दीक्षा दी थी । आस्रवत्रिभंगीमें भी श्रुतमुनिने इनका स्मरण किया है ।

२—अभयचन्द्र । ये मूलसंघ, देशीय गण, पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दाम्नायके आचार्य थे और इंगलेश्वर[1] नामक स्थानके मुनियोंमें प्रधान थे । ये व्याकरण, धर्मशास्त्र और न्यायशास्त्र आदि अशेष विषयोंके ज्ञाता थे और सारे अन्य वादियोंको इन्होंने जीता था । बालचन्द्र मुनि इनके शिष्य थे । श्रुतमुनिने इनसे मुनिदीक्षा ली थी और शास्त्राध्ययन भी किया था ।

३—प्रभाचन्द्र । ये सारत्रय अर्थात् समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारके ज्ञाता थे, परभावोंसे रहित थे और भव्य जनोंको प्रतिबोधित करनेवाले

---

१ कर्नाटक प्रान्तमें जैनोंका यह कोई बहुत ही प्रसिद्ध स्थान है । यहाँपर अनेक आचार्य और विद्वान् हो गये हैं, अनेक आचार्योंकी निषद्यायें बनी हुई हैं, भट्टारकोंकी एक गद्दी रही है और संभवतः बाहुबलिकी भी कोई मूर्ति है । श्रवणबेल्गोलके १०८ वें लेखमें लिखा है:—

नन्दिसंघे स देशीयगणे गच्छे च पुस्तके ।
इङ्गुलेशावलि श्रीमान्मंगलीकृतभूतलः ॥ २२ ॥

थे। श्रुतमुनिके ये भी विद्यागुरु थे, अर्थात् इनसे भी उन्होंने शास्त्राध्ययन किया था।

४—चारुकीर्ति। ये नय, निक्षेप और प्रमाणके ज्ञाता, सारे परधर्मोंको जीतनेवाले, बड़े बड़े राजाओंद्वारा पूजित, सारे शास्त्रोंके जाननेवाले और जिन-मार्गपर वीरतासे चलनेवाले थे।

कर्नाटककविचरितके कर्ताने श्रुतमुनिके गुरु बालचन्द्रका समय वि॰ सं॰ १३३॰ के लगभग बतलाया है। उनका कथन है कि बालचन्द्र मुनिने शक सवत् ११९५ (वि॰ सं॰ १३३॰) में द्रव्यसंग्रहकी एक टीका लिखी है और उसमें उन्होंने अपने गुरुका नाम अभयचन्द्र लिखा है। इससे सिद्ध हुआ कि श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवीं शताब्दिके विद्वान् हैं और वि॰ सं॰ १३३॰ के लगभग उनका अस्तित्व था।

'चारुकीर्ति' यह श्रवणबेल्गोलके भट्टारकोंका स्थायी नाम है। अर्थात् वहाँके पट्ट पर जितने आचार्य होते हैं वे सब चारुकीर्ति पण्डिताचार्य कहे जाते हैं। कर्नाटककविचरितके कर्ताके मतसे श्रवणबेल्गोलके जैनगुरुओंने यह नाम वि॰ सं॰ ११७४ के बाद धारण किया है। तब पूर्वोक्त प्रशस्तिकी गाथाओंमें जिन चारुकीर्तिकी प्रशंसा की है वे दूसरे या तीसरे चारुकीर्ति होंगे।

आचार्य प्रभाचन्द्रको 'सारत्रयनिपुण' विशेषण दिया गया है और हमारी संग्रहकी हुई ग्रन्थसूचीमें नाटकसमयसार आदि तीनों ग्रन्थोंकी प्रभाचन्द्रकृत टीकाओंके नाम लिखे हुए हैं। अतः ये सारत्रयनिपुण और उक्त टीकाकार एक ही होंगे।

श्रवणबेल्गोलमें श्रुतमुनिकी निषद्यापर मंगराज कविका ७५ पद्योंका एक विशाल संस्कृत शिलालेख है। शकसंवत् १३५५ (वि॰ सं॰ १४९॰) में उक्त निषद्या प्रतिष्ठित हुई है। उसमें प्रधानतः श्रुतकीर्ति, चारुकीर्ति, योगिराट्पण्डिताचार्य और श्रुतमुनिकी महिमा वर्णन की गई है। कविने श्रुतमुनिकी प्रशंसाके तो पुल बाँध दिये हैं। वे बड़े भारी विद्वान् थे और उन्होंने समाधिपूर्वक स्वर्ग-वास किया था। यदि निषद्याकी प्रतिष्ठाका समय ही उनके स्वर्गवासका समय है, तब तो कहना होगा कि ये श्रुतमुनि भावत्रिभंगीके कर्तासे कोई जुदा ही हैं और उनसे पीछे हुए हैं, परन्तु यदि स्वर्गवासके १००-११५ वर्ष बाद निषद्यापर

उक्त शिलालेख लिखवाया गया है, तो वह लिखना और प्रयोग इन्हींकी हो सकती है।

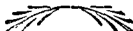
भाव-त्रिभंगीका दूसरा नाम 'भावसंग्रह' भी है। अनेक प्रतियोंमें 'भाव-संग्रह' नाम ही लिखा है। भाव-त्रिभंगी और आस्रव-त्रिभंगी ये दोनों ग्रन्थ बम्बईके तेरहपंथी मन्दिरकी एक जीर्ण प्रति परसे—जिसमें लिखनेके संवत् आदिका अभाव है—छपाये गये हैं। प्रति प्राय शुद्ध है।

इस संग्रहके तीनों प्राकृतग्रन्थोंकी संस्कृतछाया पं० पन्नालालजी सोनीने की है। मूल प्रतियोंमें छायाका अभाव था।

जिन जिन पुस्तकालयों या सरस्वतीभण्डारोंकी प्रतियोंसे इन ग्रन्थोंके प्रकाशित करनेमें सहायता मिली है, उनके अधिकारियोंके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता प्रकाश करते हैं और आशा करते हैं कि उनसे आगे भी हमें इसी प्रकार सहायता मिलती रहेगी।

बम्बई,
आश्विन सुदी १५
वि० सं० १९७८ वि०।

निवेदक—
नाथूराम प्रेमी।



नीतिवाक्यामृत सटीक, सिद्धान्तसारादिसंग्रह और रत्नकरण्डटीका ये तीन ग्रन्थ छप रहे हैं।





नमः सिद्धेभ्यः ।

भावसंग्रहादिः ।

श्रीदेवसेनसूरिविरचितो

भावसंग्रहः ।

पणविय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं ।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वप्पबोहट्ठं ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरसेनानुतं मुनिगणधरवन्दितं महावीरम् ।
वक्ष्ये भावसंग्रहमेतं भव्यप्रबोधनार्थम् ॥

जीवस्स होंति भावा जीवा पुण दुविहभेयसंजुत्ता ।
मुत्ता पुण संसारी मुत्ता सिद्धा णिरवलेवा ॥ २ ॥

जीवस्य भवन्ति भावा जीवाः पुनर्द्विविधभेदसंयुक्ताः ।
मुक्ताः पुन. संसारिणो मुक्ताः सिद्धा निरवलेपाः ॥

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतइलोया ।
असरीरा गइरहिया सुणिचला सुद्धभावट्ठा ॥ ३ ॥

---

१ हुंति स । २ द ख । ३ य. ख ।

लोकाग्रशिखरवासिनः केवलज्ञानेन मुनितत्रिलोकाः।
अशरीरा गतिरहिताः मुनिश्चलाः शुद्धभावस्थाः ॥

जे संसारी जीवा चउगइपज्जायपरिणया णिच्चं।
ते परिणामे गिण्हहि सुहासुहे कम्मसंगहणे ॥ ४ ॥

ये संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिपर्यायपरिणता नित्यम्।
ते परिणामान् गृह्णन्ति शुभाशुभान् कर्मसंग्रहणे ॥

भावेण कुणइ पावं पुण्णं भावेण तह य मुक्खं वा।
इयमंतर णाऊणं जं सेयं तं समायरेहं ॥ ५ ॥

भावेन करोति पापं पुण्यं भावेन तथा च मोक्षं वा।
इत्यन्तरं ज्ञात्वा यच्छ्रेयस्तं समाश्रय ॥

सेतुं सुद्धो भावो तस्सुवलंभो य होइ गुणठाणे।
पणदहपमायरहिए सयल वि चारित्तजुत्तस्स ॥ ६ ॥

सेव्यः शुद्धो भावः तस्योपलम्भश्च भवति गुणस्थाने।
पंचदशप्रमादरहिते सकलस्यापि चारित्रयुक्तस्य ॥

सेसा जे वे भावा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया।
ते पंचभावमिस्सा होंति गुणट्ठाणमासेज्ज ॥ ७ ॥

शेषौ यौ द्वौ भावौ शुभाशुभौ पुण्यपापसंजनकौ।
तौ पंचभावमिश्रौ भवतो गुणस्थानमाश्रित्य ॥

---

१ मे. स। २ हं स। ३ पुण्णं स। ४ मो. स। ५ अस्मादग्रे ऽकं चेति दावा स–पुस्तके गाथेयं वर्तते—

जीववहअलियचोरियमेहुणपरिग्गहेहिं रहिओ वि।
परिणामपरिग्गहिओ तंदुलमच्छो गओ णरयं ॥ १ ॥

जीववधालीकचौरीमैथुनपरिग्रहैः रहितोऽपि
परिणामपरिग्रहीनः तन्दुलमत्स्यो गतो नरके ॥

६ सेवो. स। ७ भावे क।

अउदइउ परिणामिउ खयउवसमिउ तहा उवसमो खइओ।
एए पंच पहाणा भावा जीवाण होंति जियलोए ॥ ८ ॥

औदयिकः पारिणामिकः क्षायोपशमिकस्तथौपशमिकः क्षायिकः।
एते पंच प्रधाना भावा जीवानां भवन्ति जीवलोके ॥

ते चिय पज्जायगया चउदहगुणठाणणामया भणिया।
लहिऊण उदय उवसम खयउवसम खउ हु कम्मस्स ॥९॥

ते एव पर्यायगताश्चतुर्दशगुणस्थाननामका भणिताः।
लब्ध्वा उदयमुपशमं क्षयोपशमं क्षयं हि कर्मणः ॥

मिच्छा सासण मिस्सो अविरियसम्मो य देसविरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥ १० ॥

मिथ्यात्वं सासादनं मिश्रं अविरतसम्यक्त्वं च देशविरतं च।
विरतं प्रमत्तं इतरदपूर्वमनिवृत्ति सूक्ष्मं च।

उवसंतखीणमोहे सजोइकेवलिजिणो अजोगी यं।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥ ११ ॥

---

१ नद् पंच विभव इत्यर्थे। २ य ख। ३ अजोईभी. ख। ४ सिद्धा मुणेयव्वा ख। ५ अस्मादग्रे व्याख्येयं गाथासूत्रद्वयस्य ख-पुस्तके—

अस्य चतुर्दशगुणस्थानस्य विवरणा क्रियते, मिच्छा-मिथ्यात्वगुणस्थानं १। सासण-सासादनगुणस्थानं २। मिस्सो-मिश्रगुणस्थानं ३। अविरियसम्मो-अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं, तत्कथं? सम्यक्त्वमस्ति व्रतं नास्ति ४। देसविरओ य-विरताविरत इत्यर्थः, तत्कथं? स्थावरप्रवृत्तित्रसनिवृत्तिरित्यर्थः, एकदेशविरतश्रावकगुणस्थानं ५। विरओ पमत इति कोऽर्थः यति वै सत्यपि क्वा समन्तात् पंचदशप्रमादसहित इत्यर्थ इति गुणस्थानं षष्ठं ६। इयरो-अप्रमत्त पंचदशप्रमादरहितो महान् यतिरित्यर्थ इति सप्तगुणस्थानं ७। अपुव्व-अपूर्वकरणनामगुणस्थानं ८। अणियट्टि-अनिवृत्तिनामगुणस्थानं तस्मिन् गुणस्थाने कषायांशनाऽस्ति —

उपशान्तक्षीणमोहे सयोगकेवलिजिनोऽयोगी च।
एतानि चतुर्दशगुणस्थानानि क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः॥

मिच्छत्तस्सुदएण य जीवे संभवइ उदइओ भावो।
तेण य मिच्छादिट्ठीठाणं पावेइ सो तइया॥ १२॥

मिथ्यात्वस्योदयेन च जीवे संभवति औदयिको भावः।
तेन च मिथ्यादृष्टिस्थानं प्राप्नोति स तत्र॥

मिच्छत्तरसपउत्तो जीवो विवरीयदंसणो होइ।
ण मुणइ हियं च अहियं पित्तज्जुरजुओ जहा पुरिसो॥१३॥

मिथ्यात्वरसप्रयुक्तो जीवो विपरीतदर्शनो भवति।
न जानाति हितं चाहितं पित्तज्वरयुक्तो यथा पुरुषः॥

कडुवं मण्णइ महुरं महुरं पि य तं भणेइ अइकडुयं।
तह मिच्छत्तपउत्तो उत्तमधम्मं ण रोचेइ ॥ १४॥

कटुकं मन्यते मधुरं मधुरमपि च तद्भणति कटुकं।
तथा मिथ्यात्वप्रवृत्तः उत्तमधर्मं न रोचते॥

जह कणयमज्जकोद्दवमहुरामोहेण मोहिओ संतो।
ण मुणइ कज्जाकज्जं मिच्छादिट्ठी तहा जीवो॥ १५॥

वर्ती ९। सुहमो य–सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं १०। उवसंत–उपशान्तनाम-स्थानं ११। खीणमोहो–क्षीणकषायनामगुणस्थानं १२। सयोगकेवलिजिणो समवसरणादिविभूतिसहितसयोगिकेवलिनामगुणस्थानं १३। अयोगी य–समव-सरणादिविभूतिरहितायोगिकेवलिनामगुणस्थानं १४। इति चतुर्दशगुणस्थानानि।

१ हियाहियं ख। २ पित्तज्जुरजुओ ख। ३ वं ख। ४ वे ख। ५ [illegible] द ख।

यथा कनकमयकोद्रवमधुरमोहेन मोहितः सन् ।
न जानाति कार्याकार्यं मिथ्यादृष्टिस्तथा जीवः ॥

तं पि हु पंचपयारं वियरो एयंतविणयसंजुत्तं ।
संसयअण्णाणगयं विवरीओ होइ पुण बंभो[1] ॥ १६ ॥

तदपि हि पंचप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तं ।
संशयाज्ञानगतं विपरीतो भवति पुनः ब्राह्मणः ॥

एवं वदते ब्राह्मणः—

मण्णइ जलेण सुद्धिं तित्तिं मंसेण पियरवग्गस्स[2] ।
पसुकयवहेण[3] सग्गं धम्मं गोजोणिफासेण ॥ १७ ॥

---

१ अस्या अधः पाठोऽयं वर्तते प्रथमपुस्तके—

सप्त मिथ्यात्वाः । विपरीतमिथ्यादृष्टिर्ब्राह्मणः १ । एकान्तबौद्धः २ । वैनयिकस्तापसः ३ । संशयश्वेताम्बरः ४ । अज्ञानगुरुः ५ । जीव-अभावचार्वाकः ६ । जीवोऽस्ति पुनर्जीवेन कृतं यत्पुण्यपापादिकं तत्फलं जीवो न भुङ्क्ते, परन्तु प्रकृतिस्तद्भुङ्क्ते मान्यते सांख्यः । द्वितीयपुस्तके तु उभयस्थानेऽयं पाठः—

तं पुण सत्तपयारं विवरीयं एयंत विणयसंजुत्तं ।
संसयअण्णाणगयं चव्वाकं तहेव संखं च ॥ १ ॥

तत्पुनः सप्तप्रकारं विपरीतं एकान्तविनयसंयुक्तं ।
संशयाज्ञानगतं चार्वाकं तथैव सांख्यं च ॥

विवरीओ होइ पुण बंभो । सप्तधा मिथ्यात्वं, तत्कथं ? विपरीतमिथ्यादृष्टिर्ब्राह्मणः, एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बौद्धः, विनयादेव मोक्ष इति वैनयिकमिथ्यादृष्टिस्तापसः, संशयमिथ्यादृष्टिः श्वेताम्बरः, अज्ञानादेव मोक्ष इति अज्ञानमिथ्यादृष्टिर्गुरुः, जीवाभावमिथ्यादृष्टिश्चार्वाकः । जीवोऽस्ति जीवेन कृतं यत्पुण्यपापादिकं तत्फलं जीवो न भुंक्ते परंतु प्रकृतिस्तत् तु भुंक्ते मान्यते एवं मिथ्यादृष्टिवादी सांख्यः. इति सप्त मिथ्यात्वं । तत्र तावद्विपरीतमिथ्यादृष्टिर्ब्राह्मणो कथ्यते, तत्कथं ।—

२ वग्गाणं ख । ३ पशूनां वधेनेत्यर्थः ।

मन्यते जलेन शुद्धिं तृप्तिं मांसेन पितृवर्गस्य।
पशुघातकेन स्वर्गं धर्मं गोयोनिस्पर्शनेन॥

जइ जलण्हाणपउत्ता जीवा मुच्चेइ णियपावेण।
तो तत्थ वसिय जलयरा मच्छे पावंति दिव्वलोयं॥१८॥

यदि जलस्नानप्रयुक्ता जीवा मुच्यन्ते निजपापेन।
तर्हि तत्र वसन्तो जलचराः सर्वे प्राप्नुवन्ति दिवलोकं॥

जं कम्मं दिढबद्धं जीवपएसेहि णिविडजोएण।
तं अज्झप्पणिमित्ते कह फिट्टइ तित्थण्हाणेण॥ १९॥

यत्कर्म दृढबद्धं जीवप्रदेशैर्निविडयोगेन।
तदध्यात्मनिमित्ते कथं स्फुटति तीर्थस्नानेन॥

उक्तं च गीतायां—

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥ १॥

मलिणो देहो णिच्चं देही पुण णिम्मलो सयाकालं।
को इह जलेण सुज्झइ तम्हा ण्हाणे ण हु सुद्धी॥ २०॥

मलिनो देहो नित्यं देही पुनः निर्मलः सदाकालम्।
क इह जलेन शुध्यति तस्मात् स्नाने न हि शुद्धिः॥

उक्तं च —

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अरण्ये निर्जले देशेऽशुचिर्याद्ब्राह्मणो मृतः ।
वेदवेदाङ्गतत्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥ २ ॥
यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
अथ स्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकं ॥ ३ ॥

सुज्झइ जीवो तवसा इंदियखलणिग्गहेण परमेण ।
रयणत्तयसंजुत्तो जह कणयं अग्गिजोएण ॥ २१ ॥

शुद्ध्यति जीवस्तपसा इन्द्रियखलनिग्रहेन परमेण ।
रत्नत्रयसंयुक्तो यथा कनकं अग्नियोगेन ॥

ण्हाणाओ चिय सुद्धिं जीवा इच्छंति जे जडत्तेण ।
भमिहिंति ते वराया चउरासीजोणिलक्खाइं ॥ २२ ॥

स्नानादेव शुद्धिं जीवा इच्छन्ति ये जडत्वेन ।
भ्रमिष्यन्ति ते वराकाश्चतुरशीतियोनिलक्षाणि ॥

जे तियरमणासत्ता विसयपमत्ता कसायरसविसिया ।
ण्हंता वि ते ण सुद्धा गिहवावारेसु वट्टंता ॥ २३ ॥

कामरागमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते जलेन शुद्ध्यन्ति स्नात्वा तीर्थशतैरपि ॥ २ ॥
गंगातोयेन सर्वेण मृद्भारैः पर्वतोपमैः ।
आमृत्योराचरम् शौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति ॥ ३ ॥
मनो विशुद्धं पुरुषस्य तीर्थं वाचां यमश्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
एतानि तीर्थानि शरीरजानि मोक्षस्य मार्गं प्रतिदर्शयन्ति ॥ ४ ॥
इति गीतायां श्लोकाः ।

ये स्त्रीरमणासक्ता विषयप्रमना कषायवशगिनाः ।
स्नान्ति अपि ते न शुद्धा गृहव्यापारेषु वर्तमानाः ॥

सव्वेस्सेण ण तित्ता मायापउरा य जायणासीला ।
किं कुणइ तेसु ण्हाणं अब्भंतरगहियपावाणं ॥ २४ ॥

सर्ववस्तुना न तृप्ता मायाप्रचुराश्च याचनाशीलाः ।
किं करोति तेषां स्नानमभ्यन्तरगृहीतपापानां ॥

वयणियमसीलजुत्ता णिहयकसाया दयावरा जइणो ।
ण्हाणरहिया वि पुरिसा बंभंचारी सया सुद्धा ॥ २५ ॥

व्रतनियमशीलयुक्ता निहतकषाया दयापरा यतयः ।
स्नानरहिता अपि पुरुषा ब्रह्मचारिणः सदा शुद्धाः ॥

स्नानदूषणम् ।

मंसेण पियरवग्गो पीणिज्जइ एरिसी सुई जेसिं ।
तेहिमसेसं गोत्तं हणिऊण य भक्खियं णियमा ॥ २६ ॥

मांसेन पितृवर्गः तृप्यते ईदृशी श्रुतिर्येषां ।
तैरशेषं गोत्रं हत्वा च भक्षित नियमात् ॥

जे कयकम्मपउत्ता सुयणा हिंडंति चउगईघोरे ।
संसारे गिण्हंता संबंधा सयलजीवेहिं ॥ २७ ॥

ये कृतकर्मप्रयुक्ताः स्वजना हिण्डन्ते चतुर्गतिघोरे ।
संसारे गृह्णन्तः सम्बन्धान् सकलजीवैः ॥

तिरियगई उववण्णा संपत्ता मच्छयाइ जे जम्मं ।
हणिऊण अवरपक्खे तेसिं मंसेहिं विविहेहिं ॥ २८ ॥

तिर्यग्गतावुत्पन्नाः सम्प्राप्ता मत्स्यादि ये जन्म ।
हत्वा अपरपक्षे तेषां मांसैर्विविधैः ॥

कुणइ सराइं कोई पियरे संसारतारणत्थेण ।
सो तेसिं मंसाणि य तेसिं णामेण खावेइ ॥ २९ ॥

करोति श्राद्धं कश्चित्पितुः संसारतारणार्थेन ।
स तेषां मांसानि च तेषां नाम्ना खादयति ॥

चंकेण जह मताओ हरिणो हणिऊण तण्णिमित्तेण ।
पइऊण सोत्तियाणं दिण्णो खद्धो सयं चेव ॥ ३० ॥

चक्रेण यथा स्वतातो हरिणो हत्वा तन्निमित्तेन ।
प्रीणयित्वा श्रोत्रियेभ्यो दत्तः भक्षितः स्वयं चैव ॥

मंसासिणो ण पत्तं मंसं ण हु होइ उत्तमं दाणं ।
कह सो तिप्पइ पियरो परमुहगसियाइं भुंजंतो ॥ ३१ ॥

मांसाशिनो न पात्रं मांसं न हि भवति उत्तमं दानं ।
कथं स तृप्यति पिता परमुखग्रसितानि भुञ्जानः ॥

अण्णम्मि भुंजमाणे अण्णो जइ धाइ एत्थ पच्चक्खं ।
तो सग्गम्मि वसंता पियरा तित्तिं खु पावंति ॥ ३२ ॥

अन्यस्मिन् भुञ्जानेऽन्यो यदि तृप्यत्यत्र प्रत्यक्षं ।
ततः स्वर्गे वसन्तः पितरस्तृप्तिं खलु प्राप्नुवन्ति ॥

---

१ श्राद्धपक्षे । २ केर म । ३ तत्पुत्रादनिमित्तेन । ४ पावंता क ।

जइ पुत्तदिण्णदाणे पियरा तिप्पंति चउगइ गया वि ।
तो जण्णहोमण्हाणं जवतववेयाइं अकियत्था ॥ ३३ ॥

यदि पुत्रदत्तदानेन पितरः तृप्यन्ति चतुर्गतिं गता अपि ।
तर्हि यज्ञहोमस्नानं जपतपोवेदादयः अकृतार्थाः ॥

कयपावो णरय गओ णिज्जइ पुत्तेण पियरु सग्गम्मि ।
पिंडं दाऊण फुडं ण्हाइ य तित्थाइं भणिऊण ॥ ३४ ॥

कृतपापो नरके गतो नीयते पुत्रेण पिता स्वर्गे ।
पिंडं दत्त्वा स्फुटं स्नाति च तीर्थानि भणित्वा ॥

जइ एवं तो पियरो सग्गं पत्तो वि जाइ णिरयम्मि ।
पुत्तेण कए दोसे बंभहच्चाइगरुएण ॥ ३५ ॥

यद्येवं तर्हि पिता स्वर्गं प्राप्तोऽपि जायते नरके ।
पुत्रेण कृतेन दोषेण ब्रह्महत्यादिगुरुकेन ॥

अण्णकए गुणदोसे अण्णो जइ जाइ सग्गणरयम्मि ।
जो कुणइ पुण्णपावं तस्स फलं सो ण वेएइ ॥ ३६ ॥

अन्यकृताभ्यां गुणदोषाभ्यामन्यो यदि याति स्वर्गनरके ।
यः करोति पुण्यपापं तस्य फलं स न वेदयति ॥

ण हु वेयइ तस्स फलं कत्ता पुरिसो हु पुण्णपावस्स ।
जइ तो कह ते सिद्धा भूयग्गामा हु चत्तारि ॥ ३७ ॥

न हि वेदयति तस्य फलं कर्ता पुरुषः हि पुण्यपापस्य ।
यदि तर्हि कथं ते सिद्धाः भूतग्रामा हि चत्वारः ॥

१ [illegible] । २ [illegible] । ३ [illegible] । ४ अन्य स्थाने पुण्ण [illegible] पाठः ५– [illegible]

जो कुणइ पुण्णपावं सो चिय भुंजेइ णत्थि संदेहो।
सग्गं वा णरयं वा अप्पाणो णेइ अप्पाणं ॥ ३८ ॥

यः करोति पुण्यपापं स एव भुनक्ति नास्ति सन्देहः।
स्वर्गं वा नरकं वा आत्मना नयति आत्मानं ॥

एवं भणंति केई जलथलगिरिसिहरअग्गिकुहरेसु।
चउविहभूयग्गामे वसइ हरी णत्थि संदेहो ॥ ३९ ॥

एवं भणन्ति केचिज्जलस्थलगिरिशिखराग्निकुहरेषु।
चतुर्विधभूतग्रामे वसति हरिर्नास्ति सन्देहः॥

उक्तं च—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥

सव्वगओ जइ विण्हू णिवसइ देहम्हि सव्वदेहीणं।
तो रुक्खाइहएण सो णिहओ होइ णियमेण ॥ ४० ॥

सर्वगतो यदि विष्णुः निवसति देहे सर्वदेहिनां।
तर्हि वृक्षादिहतेन स निहतो भवति नियमेन ॥

उक्तं च—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ॥ १ ॥
मत्स्यः कूर्मो वराहश्च विष्णुः सम्पूज्य भक्तितः।
मत्स्यादीनां कथं मांसं भक्षितुं कल्प्यते बुधैः ॥ २ ॥

१ ये, ख। २ अस्मादग्रे इमौ श्लोकौ समुपलभ्येते ख-पुस्तके—(अग्रतनपृष्ठे)

किडिकुम्मवराहरूवं पडिमं काऊण विण्हु भणिऊण ।
अच्चेवणम्मि पुज्जइ गंधक्खयपुप्फदीवेहिं ॥ ४१ ॥

किटिकूर्ममत्स्यरूपां प्रतिमां कृत्वा विष्णुं भणित्वा ।
अर्चने पूजयति गन्धाक्षतपुष्पदीपैः ॥

जो पुण पेरयमाणो विण्हू पयासए मच्छकिडिरूवो ।
सो हणिऊण य गसओ दिण्णो णियपाण पावेहिं ॥ ४२ ॥

यः पुनः प्रेरयमाणः विष्णुः प्रकाशते मत्स्यकिटिरूपः ।
स हतः [illegible] पापैः ॥

जइ देवो हणिऊणं [illegible] भणिऊण [illegible] ।
तो [illegible] आरोविए तेण पावेण ॥ ४३ ॥

यदि देवो हत्वा [illegible] ।
तर्हि [illegible] आरोप्य तेन पापेन ॥

[illegible] ॥ ४४ ॥

[illegible]

हत्वा प्रौढच्छागं गच्छति स्वर्गं एष वेदार्थः।
तर्हि सूनकाराः सर्वे स्वर्गं नियमेन गच्छन्ति ॥

सव्वगओ जइ विण्हू छागसरीरम्मि किं ण सो अत्थि।
जं णिसाणो वहिओ चडप्फडंतो णिरुस्सासो ॥ ४५ ॥

सर्वगतो यदि विष्णुः छागादिशरीरे किं न सोऽस्ति।
यद् निस्त्राणः हतः तल्पमानो निःश्वासः ॥

अण्णं इयं णिसुणिज्जइ सत्थे हरिबंभरुद्दभत्ताण।
सव्वेसु जीवरासिसु अंगे[1] देवा हु णिवसंति ॥ ४६ ॥

अन्यदिति निश्रूयते शास्त्रे हरिब्रह्मरुद्रभक्तानां।
सर्वेषां जीवराशिनां अंगे देवा हि निवसन्ति ॥

उक्तं च—

नाभिस्थाने वसेद्ब्रह्मा विष्णुः कण्ठे समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥ १ ॥
नासाग्रे च शिवं विद्यात्तस्यांते च परोपरः।
परात्परतरं नास्ति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ २ ॥

अन्ये चैवं वदन्त्येके यज्ञार्थे यो निहन्यते।
तस्य मांसाशिनः सोऽपि सर्वे यान्ति सुरालयं ॥ १ ॥
तत्किं न क्रियते यज्ञः शास्त्रैरेतस्य निश्चयात्।
पुत्रबन्ध्वादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥ २ ॥
नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हंतुं न युक्तं तव।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो
यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः ॥ ३ ॥

पूर्वे द्वे पद्ये संस्कृतभावसंग्रहस्य। अन्यं चैकं यशस्तिलकचम्प्वाः।

१ हु ख। २ एत्थे ख।

सव्वेसु जीवरासिसु एए णिवसंति पंचठाणेसु ।
जइ तो किं पसुवहणे ण मारिया होंति ते सव्वे ॥ ४७ ॥
सर्वासु जीवराशिषु एते निवसन्ति पंचस्थानेषु ।
यदि तर्हि किं पशुवधेन न मारिता भवन्ति ते सर्वे ॥
देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई ।
तु रुक्खवंदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥ ४८ ॥
देवान् वद्ध्वा गुणान् लभन्ते यद्यत्रोत्तमाः केचित् ।
तर्हि वृक्षवन्दनया? अपरे पारधिकाः सर्वे ॥
उक्तं च—

न हि हिंसाकृते धर्मः सारम्भे नास्ति मोक्षता ।
स्त्रीसम्पर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥ १ ॥
तिलसर्षपमात्रं वा यो मांसं भक्षयेद्द्विजः ।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ २ ॥
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ३ ॥
आगोपालादि यत्सिद्धं धान्य मांसं पृथक् पृथक् ॥
मांसमानय इत्युक्ते न कश्चिद्धान्यमानयेत् ॥ ४ ॥
स्थावरा जंगमाश्चैव द्विधा जीवाः प्रकीर्तिताः ।
जंगमेषु भवेन्मांसं फलं तु स्थावरेषु च ॥ ५ ॥
मांसं तु इंद्रियं पूर्णं सप्तधातुसमन्वितं ।
यो नरो भक्षते मांसं स भ्रमेत्सागरान्तकम् ॥ ६ ॥

मासदूषणं ।

वंदइ गोजोणि सया तुंडं परिहरइ भणिवि अपवित्तं ।
विवरीयाभिणिवेसो एसो फुड्डु होइ मिच्छो वि ॥ ४९ ॥

१ व्वे ख । २ ख-पुस्तके त्वस्य स्थाने एवं पाठान्तरं—(पुरोवर्तिपृष्ठे)

वन्दते गोयोनिं सदा तुंडे परिहरति भणित्वाऽपवित्रं ।
विपरीताभिनिवेश एव स्फुटं भवति मिथ्यात्वमपि ॥

पावेण तिरियजम्मे उववण्णा तिणयरी पसू गावी ।
अविवेया विट्ठासी सा कह देवत्तणं पत्ता ॥ ५० ॥

पापेन तिर्यग्जन्मनि उत्पन्ना तृणचारिणी पशुः गौः ।
अविवेकिनी विष्ठाशिनी सा कथं देवत्वं प्राप्ता ॥

अहवा एसो धम्मो विट्ठं भक्खंतया वि पणमणीया ।
तो किं गज्झइ दुज्झइ ताडिज्जइ दीहदंडेण ॥ ५१ ॥

उक्तं च—

न हि हिंसाकृते धर्मः सारम्भे नास्ति मोक्षता ।
स्त्रीसम्पर्के कुतः शौचं मांसभक्षे कुतो दया ॥ १ ॥
संस्कर्ता चोपहर्ता च या (खा) दकश्चैव घातकः ।
उपदेष्टाऽनुमंता च षडेते समभागिनः ॥ २ ॥
मांसाशनातिदाक्षे मूत्रमरे नैव तिष्ठते सुदया ।
निर्दयमनसि न धर्मो धर्मविहीने च नैव सुखिता स्यात् ॥ ३ ॥
तिलसर्षपमात्रं तु यो मांसं भक्षयेद्द्विजः ।
स नरकान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४ ॥
आकाशगामिनो विप्राः पतिता मांसभक्षणात् ।
विप्राणां पतनं दृष्ट्वा तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ५ ॥
न कर्दमे भवेन्मांसं न काष्ठेषु तृणेषु च ।
जीवशरीराद्भवेन्मांसं तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ६ ॥
सर्वं शुक्र भवेद्ब्रह्मा विष्णुर्मांसं प्रवर्तते ।
ईश्वरोऽप्यस्थि संघाते तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥ ७ ॥

अथ धान्यमाह—

यदन्मांसं तत्सर्वं जीवशरीरमेव स्यात् । एवशब्दो निर्द्धारणार्थः । यज्जीवशरीरं तत्सर्वं मांसं भवतीति नियमाभावः, कुतः वृक्षादौ व्यभिचारात् । वृक्षादीनां जीवशरीरत्वे सत्यपि मांसाभावात् ।

अदत्तैव धर्मो सिद्धा मुण्डनमपि नमनीया ।
तर्हि किं बध्यते दूयते ताड्यते दीर्घदण्डेन ॥

अन्वय—

मांसं शीकरीरं शीकरीरं [illegible] वा मांसं ।
[illegible] [illegible] [illegible] वा [illegible] ॥ ८ ॥

आसादी [illegible] ।

[illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ ९ ॥

[illegible] —

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १० ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ ११ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १६ ॥

[illegible]

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १८ ॥

१ [illegible]

सुरही लोयस्सग्गे वग्घाणइ एस देवि पच्चक्खा ।
सव्वे देवा अंगे इमिए णिवसंति णियमेण ॥ ५२ ॥

सुरभिः लोकस्याग्रे कथ्यते एषा देवी प्रत्यक्षा ।
सर्वे देवा अंगे अस्या निवसन्ति नियमेन ॥

पुणरवि गोसवजण्णे मंसं भक्खंति ता वि मारित्ता ।
तस्सेव वहेणं फुडं ण मारिया होंति ते देवा ॥ ५३ ॥

पुनरपि गवोत्सवयज्ञे मांसं भक्षयन्ति तामपि मारयित्वा ।
तस्या एव वधेन स्फुटं न मारिता भवन्ति ते देवाः ॥

सोत्तिय गव्वुच्चुडा मंसं भक्खंति रमंहि महिलाओ ।
अपवित्ताइं असुद्धा देहच्छिद्दाइं वंदंति ॥ ५४ ॥

श्रोत्रिया गर्वोत्कटा मांसं भक्षयन्ति रमन्ते महिलाः ।
अपवित्राणि अशुद्धानि देहच्छिद्राणि वन्दन्ते ॥

सो सोत्तिओ भणिज्जइ णारीकडिसोत्त वज्जिओ जेण ।
जो तु रमणासत्तो ण सोत्तियो सो जडो होई ॥ ५५ ॥

स श्रोत्रियो भण्यते नारीकटिस्रोतो वर्जितं येन ।
यस्तु रमणासक्तो न श्रोत्रियः स जडो भवति ॥

अहवा पसिद्धवयणं सोत्तं णारीण सेवए जेण ।
मुत्तप्पवहणदारं सोत्तियओ तेण सो उत्तो ॥ ५६ ॥

अथवा प्रसिद्धवचनं स्रोतो नारीणां सेव्यते येन ।
मूत्रप्रवाहद्वारं श्रोत्रियः तेन स उक्तः ॥

इय विवरीयं उत्तं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं ।
तेण पउत्तो जीवो णरयगईं जाइ णियमेण ॥ ५७ ॥

१ इमाइ स । सप्तम्यामुभयमेव साधु । २ वहणेण स, वहएण क । ३ रमंति । ४ गोयोनी. । ५ सोत्तु स, सुत्तु. क । कटिस्रोतः-योनिच्छिद्रं ।

इति विपरीतं उक्तं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमं।
तेन प्रयुक्तो जीवो नरकगतिं याति नियमेन॥

अवि महइ तत्थ दुक्खं सक्करपहपमुहणरयविवरेसु[1]।
कह सो सग्गं पावइ णिहय पसू खद्धपलगासो॥ ५८॥

अपि सहते तत्र दुःखं शर्कराप्रमुखनरकविवरेषु।
कथं स स्वर्गं प्राप्नोति निहत्य पशून् खादितपलग्रासः॥

जइ कहवं तत्थ णिग्गइ उप्पज्जइ पुणु वि तिरियजोणीसु[2]।
मारियइ सोत्तिएहिं णित्ताणो[3] पुण वि जण्णम्मि[4]॥ ५९॥

यदि कथमपि ततो निर्गच्छति उत्पद्यते पुनरपि तिर्यग्योनिषु।
मार्यते श्रोत्रियैः निस्त्राणः पुनरपि यज्ञे॥

णियभासाए[5] जंपइ मेमेंतो कहइ आसि मे रइयं[6]।
एवं वेयविहाणे संपत्तो दुग्गई तेण॥ ६०॥

निजभाषायां जल्पति मे मे कथयति आसीत् मया रचितं।
एवं वेदविधानेन संप्राप्ता दुर्गतिः तेन॥

इय विलवंतो हम्मइ गलयं मुहनासरंध रुंधित्ता।
भक्खियइ सोत्तियेहिं विहिणा वहुवेयवंतेहिं[7]॥ ६१॥

---

१ प्रमुखशब्देन रत्नप्रभावालुकाप्रभादयो गृह्यन्ते। २ क-ख-पुस्तकद्वयेऽपि इति पाठः। ३ रक्षारहितः। ४ म ग। ५ छागादीनां भाषा। ६ "मि मइ ममाद मए मे छिटा इत्यनेन अस्मच्छब्दस्य स्थाने टावचनेन सह मे इत्यादेशः। ७ अस्मादग्रे ईदृक्पाठो निरुपायः ख-पुस्तके। विवरीयमिच्छत्तसम्मत्तं। अथ दर्शनसाराद्गाथा-युग्मं—

सुव्वयतित्थे उज्झो खीरकदंबुत्ति सुद्धसम्मत्तो।
सीसो तस्स य दुट्ठो पुत्तो वि य पव्वओ वक्को॥ १॥
विवरीयमयं किच्चा विणासियं सव्वसंजमं लोए।
तत्तो पत्ता सव्वे सत्तमणरयं महाघोरं॥ २॥

इति विलपन् हन्यते गलत्सुतनासिकारन्ध्रं दृष्ट्वा ।
भक्ष्यते श्रोत्रियैः विधिना यज्ञवेदवाद्भिः ॥

इय विवरीयं कहियं मिच्छत्तं पावकारणं विसमं ।
जो परिहरइ मणुस्सो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥ ६२ ॥

इति विपरीतं कथितं मिथ्यात्वं पापकारणं विषमं ।
य परिहरति मनुष्यः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानं ॥

इति विपरीतमिथ्यात्वं प्रथमं ।

एयंतमिच्छदिट्ठी बुद्धो एयंतणयसमालंबी ।
एयंतें खणियत्तं मण्णइ जं लोयमज्झम्मि ॥ ६३ ॥

एकान्तमिथ्यादृष्टिर्बुद्ध एकान्तनयसमालम्बी ।
एकान्तेन क्षणिकत्वं मन्यते यल्लोकमध्ये ॥

जइ खणियत्तो जीवो तम्हि भवे कस्स कम्मसंबंधो ।
संबंध विणा ण घडइ देहग्गहणं पुणो तस्स ॥ ६४ ॥

यदि क्षणिको जीवस्तर्हि भवेत् कस्य कर्मसम्बन्धः ।
सम्बन्धं विना न घटते देहग्रहणं पुनः तस्य ॥

तवयरणं वयधरणं चीवरगहणं च सीसमुंडणयं ।
मत्तहंडियासु भिक्खा खणियत्ते णेव संभवइ ॥ ६५ ॥

सुमततीर्थे जातः क्षीरकदम्ब इति शुद्धसम्यक्त्वः ।
शिष्यस्तस्य च दुष्टः पुत्रोऽपि च पर्वतो वक्रः ॥
विपरीतमतं कृत्वा विनाशितं सर्वसंयमं लोके ।
ततः प्राप्ताः सर्वे सप्तमनरकं महाघोरे ॥

१ अस्य स्थाने विवरीयमिच्छत्ते इति ख-पुस्तके, विवरीयमिच्छत्तं मम्मत्तं इति क-पुस्तके-पाठः । २ सत्तहयडियासु ख ।

तपश्चरणं व्रतधारणं चीवरग्रहणं च शिरोमुण्डनं ।
सप्तघटिकासु भिक्षा क्षणिको नैरात्म्यवादी ॥

णाणं जइ खणभंसी कह सो बालत्तणेसियं मुणइ ।
तह बाहिरगओ संतो कह आवइ पुण वि णियगेहं ॥ ६६ ॥

ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि कथं स बालत्वस्थितं जानाति ।
तथा बहिर्गतः सन् कथमागच्छति पुनरपि निजगृहं ॥

जइ चेयणा अणिच्चा तो किं णिज्जायमावि संभरइ ।
णट्टगइ वि मिणाइ वि कह जाणइ दिट्ठमिणाइं ॥ ६७ ॥

यदि चेतना अनित्या तर्हि कथं निजातकमपि स्मरति ।
[illegible] अपि निधानादि कथं जानाति दृष्टपूर्वाणि ॥

चम्मट्ठियम्मि ण दूसइ [illegible] घडे पियइ मज्जु णिल्लज्जो ।
इच्छइ गम्मागमणं अगम्मगमणं च पावेण ॥ ६८ ॥

[illegible] न दूषयति [illegible] घटे पिबति मद्यं निर्लज्जः ।
इच्छति [illegible] च पापेन ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ७० ॥

[illegible] ।
[illegible] ।

[illegible]

णिच्चाणिच्चं दव्वं सव्वं इह अत्थि लोयमज्झम्मि।
पज्जाएण अणिच्चं णिच्चं फुडु होइ दव्वेण ॥ ७१ ॥

नित्यमनित्यं द्रव्यं सर्वमिहास्ति लोकमध्ये।
पर्यायेणानित्यं नित्यं स्फुटं भवति द्रव्येण ॥

इय एयंतं कहियं मिच्छत्तं गरुयपावसंजणयं।
एत्तो उड्ढं वोच्छं वेणइयं णाम मिच्छत्तं ॥ ७२ ॥

इति एकान्ते कथिते मिथ्यात्वं गुरुकपापसंजनकं।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये वैनयिकं नाम मिथ्यात्वं ॥

इत्येकान्तमिथ्यात्वं द्वितीयं।

१अस्मादग्रे एवंविधः पाठो लिखितः ख—पुस्तके। अथ—दर्शनसारगाथा—पंचकं—

सिरिपासणाहतित्थे सरयूतीरे पलासणयरत्थे।
पिहियासवस्स सीसो महासुओ बुद्धकित्तिमुणी ॥ १ ॥
तिमिपूरणासणेण हि अहिगयपव्वज्जाओ परिब्भट्ठो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ २ ॥
मंसस्स णत्थि जीवो जह फले दुद्धदहियसक्करए।
तम्हा तं वंछित्तो तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥ ३ ॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं।
इय लोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥ ४ ॥
अण्णो करेइ कम्मं अण्णो तं भुंजई इदि सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णो ॥ ५ ॥

श्रीपार्श्वनाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्थे।
पिहितास्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धकीर्तिमुनिः।
तिमिपूरणाशनेन हि अगृहीतप्रव्रज्यः परिभ्रष्टः।
रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्तितं तेनैकान्तं।
मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दुग्धदधिशर्करासु।
तस्मात्तद्वाञ्छन् तद्भक्षयन् न पापिष्ठः

वेणइयमिच्छदिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी ।
णिग्गुणजणम्मि विणओ पउंजमाणो हु गयविवेओ ॥७३॥

वैनयिकमिथ्यादृष्टिः भवति स्फुटं तापसो ह्यज्ञानी ।
निर्गुणजने विनयं प्रयुञ्जमानो हि गतविवेकः ॥

विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं ।
अमुणियगुणागुणेण य विणयं मिच्छत्तणडियेण ॥ ७४ ॥

विनयत इह मोक्षः क्रियते पुनस्तेन गर्दभादीनां ।
अमुनितगुणागुणेन च विनयः मिथ्यात्वनटेन ॥

जक्खयणायाईणं दुग्गाखंधाइअण्णदेवाणं ।
जो णवइ धम्महेउं जो वि य हेउं च सो मिच्छो ॥ ७५ ॥

यक्षनागादीन् दुर्गास्कन्धाद्यन्यदेवान् ।
यो नमति धर्महेतोः योऽपि च हेतुश्च स मिथ्यात्वं ॥

पुत्तत्थमाउसत्थं कुणइ जणो देविचंडियाविणयं ।
मारइ छेलयसत्थं पुज्जेइ कुलाई मज्जेण ॥ ७६ ॥

मद्यं न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथैतत् ।
इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं
अन्यः करोति कर्म अन्यः भुनक्तीति सिद्धान्तं ।
परिकल्प्य नूनं वशीकृत्य नरकमुपपन्नः

२ एयंतमिच्छत्तं पुस्तके पाठः ।

१ होइ ख । २ मूढेन । ३ योग्यायोग्यकमाद्दते इत्यर्थः । ४ पुज्जइ कउलाइ मज्जेण ख । पूज्यते कौलानि मद्येन । कौलानि कुलदेवानित्यर्थः ।

पुत्रार्थमायुष्यार्थं करोति जनो देवीचण्डिकादिनयं।
मारयति छागमार्थं पूज्यते कुलानि मद्येन ॥

ण वि होइ तत्थ पुण्णं किज्जंति णिकिट्ठरुद्दसब्भावा।
ण य पुत्ताइं दाउं सक्का ते सत्तिहीणा जे ॥ ७७ ॥

नापि भवति तत्र पुण्यं कुर्वन्ति निकृष्टरुद्रस्वभावान्।
न च पुत्रादि दातुं शक्यास्ते शक्तिहीना ये ॥

जइ ते होंति समत्था कत्थ गया पंडवाइया पुरिसा।
कत्थ गया चक्केसा हलहरणारायणा कत्थ ॥ ७८ ॥

यदि ते भवन्ति समर्थाः कुत्र गताः पाण्डवाद्याः पुरुषाः।
कुत्र गताश्चक्रेशा हलधरनारायणाः कुत्र ॥

जइ देवय देइ सुयं तो किं रुद्देणं सेविया गउरी।
दिव्वं वरिससहस्सं पुत्तत्थं तारयभएण ॥ ७९ ॥

यदि देवो ददाति सुतं तर्हि किं रुद्रेण सेविता गौरी।
दिव्यं वर्षसहस्रं पुत्रार्थं तारकभयेन ॥

तह्मा सयमेव सुओ हवेइ मिहुणाण रइपउत्ताणं।
अण्णाण मूढलोओ वाहिज्जइ धुत्तमणुएहिं ॥ ८० ॥

तस्मात्स्वयमेव सुतो भवेत् मिथुनानां रतिप्रवृत्तानां।
अज्ञानो मूढलोको बाध्यते धूर्तमनुष्यैः ॥

संते आउसि जीवइ मरणं गलियम्मि णत्थि संदेहो।
ण व रक्खइ को वि तहिं संतं सोसेइ ण हु कोई ॥ ८१ ॥

सति आयुषि जीवति मरणं गलिते नास्ति सन्देहः।
न च रक्षति कोऽपि तस्मात् सत् शोषयति न हि कश्चित् ॥

---

१ ते ख। २ नि ख। ३ ओ ख। ४ रद्दाण क। ५ आयुष्यं। संते ख।

जइ सव्वदेवयाओ मणुयं रक्खंति पुज्जियाओ य ।
तो किं सो दहवयणो ण रक्खिओ विज्जसहस्सेण[4] ॥ ८२ ॥
यदि सर्वदेवता मनुजं रक्षयन्ति पूजिताश्च ।
तर्हि किं स दशवदनो न रक्षितो विद्यासहस्रेण ॥

इय णाउं परमप्पा अट्ठारसदोसवज्जिओ देवो ।
पणविज्जइ भत्तीए जह लब्भइ इच्छियं वत्थुं ॥ ८३ ॥
इति ज्ञात्वा परमात्मानं अष्टादशदोषवर्जितो देवः ।
प्रणम्यते भक्त्या येन लभ्यते इच्छितं वस्तु ॥

वेणइयं मिच्छत्तं कहियं भव्वाण वज्जणट्ठं तु ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं मिच्छत्तं संसय णाम ॥ ८४ ॥
वैनयिकं मिथ्यात्वं कथितं भव्यानां वर्जनार्थं तु ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये मिथ्यात्वं संशयं नाम ॥

इति वैनयिकमिथ्यात्वं तृतीयं ।

---

१ आओ ख । २ मणुय ख । ३ हि ख । ४ अस्मादग्रेऽयं [illegible] पाठः ख-पुस्तके । दर्शनसारगाथा —

सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाण समुब्भवो अत्थि ।
सजडा मुंडियसीसा सिहिणो णग्गा य केई य ॥ १ ॥
दुट्ठे गुणवंते वि य समया भत्ती य सव्वदेवाणं ।
णमणं दंडुव्व जणे परिकलियं तेहिं मूढेहिं ॥ २ ॥
सर्वेषु च तीर्थेषु च वैनयिकानां समुद्भवोऽस्ति ।
सजटा मुण्डितशीर्षाः शिखिनो नग्नाः केचित् ॥
दुष्टे गुणवति अपि च समया भक्तिः सर्वदेवानां ।
नमनं दण्डवत् जने परिकलितं तैर्मूढैः ॥

अत्रैव " तथा ग्रन्थान्तरे श्लोकत्रय मतान्तरमाह " इति लिखित्वा श्लोकत्रयं लिखितमस्ति, ते च भावसंग्रहे १६९–१७०–१७१ [illegible] अतो न लिखिता- [illegible] । [illegible]

संगयमिच्छादिट्ठी णियमा सो होइ जस्थ सग्गंथो ।
णिग्गंथो वा सिज्झइ कंवलगहणेण सेवडओ ॥ ८५ ॥

सग्रन्थमिथ्यादृष्टिर्नियमात् स भवति यत्र सग्रन्थ ।
निर्ग्रन्थो वा सिद्ध्यति कंबलग्रहणेन श्वेतपटः ॥

दंडं दुद्धिय चेलं अण्णं सव्वं पि धम्मउवयरणं ।
मण्णइ मोक्खणिमित्तं गंथे लुद्धो समायरइ ॥ ८६ ॥

दण्डं दुग्धिकं चेलं अन्यत्सर्वमपि धर्मोपकरणं ।
मन्यते मोक्षनिमित्ते ग्रन्थे लुब्ध समाचरति ॥

इत्थीगिहत्थवग्गे तम्मि भवे चेव अत्थि णिव्वाणं ।
कवलाहारं च जिणे णिद्दा तण्हा य संसइओ ॥ ८७ ॥

स्त्रीगृहस्थवर्गे तस्मिन् भवे चैव अस्ति निर्वाणं ।
कवलाहारं च जिने निद्रा तृष्णा च संशयितः ॥

जइ सग्गंथो मुक्खं तित्थयरो किं मुएइ णियरज्जं।
रयणणिहाणेहि समं किं णिवसइ णिज्जणे रण्णे ॥ ८८ ॥

यदि सग्रन्थो मोक्षः, तीर्थंकर. किं मुंचति निजराज्यं ।
रत्ननिधानैः समं, किं निवसति निर्जनेऽरण्ये ॥

रयणणिहाणं छंडइ सो किं गिण्हेइ कंबली खंडं ।
दुद्धिय दंडं च पडं गिहत्थजोग्गं पि जं किं पि ॥ ८९ ॥

रत्ननिधानं त्यजति स किं गृह्णाति कम्बलखण्ड ।
दुग्धिकं दण्डं च पटं गृहस्थयोग्यमपि यत् किमपि ॥

गेहे गेहे भिक्खं पत्तं गहिऊण जाइए किं सो ।
किं तस्स रयणविही घरे घरे णिवडिया तत्थ ॥ ९० ॥

---

१ किंचित् ख ।

गृहे गृहे भिक्षां पात्रं गृहीत्वा याचते किं सः।
किं तस्य रत्नवृष्टिः गृहे गृहे निपतिता तत्र ॥

ण हु एवं जं उत्तं संसयमिच्छत्तरसियचित्तेण ।
णिग्गंथमोक्खमग्गो किंचणबहिरंतणचएण ॥ ९१ ॥

न हि एवं यदुक्तं संशयमिथ्यात्वरसिकचित्तेन ।
निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः किंचनबाह्यान्तस्त्यक्तेन ॥

जइ तप्पइ उग्गतवं मासे मासे च पारणं कुणइ ।
तह वि ण सिज्झइ इत्थी कुच्छियलिंगस्स दोसेण ॥ ९२ ॥

यदि तप्यते उग्रतपः मासे मासे च पारणं करोति ।
तथापि न सिद्ध्यति स्त्री कुत्सितलिंगस्य दोषेण ॥

मायापमायपउरा पडिमासं तेसु होइ पक्खलणं ।
णिच्चं जोणिस्साओ दारढुं णत्थि चित्तस्स ॥ ९३ ॥

मायाप्रमादप्रचुराः प्रतिमासं तासु भवति प्रस्खलनं ।
नित्यं योनिस्रावः दाढर्यं ? नास्ति चित्तस्य ॥

सुहमापज्जत्ताणं मणुआणं जोणिणाहिकक्खेसु ।
उप्पत्ती होइ सया अण्णेसु य तणुपएसेसुं ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मापर्याप्तानां मनुष्याणां योनिनाभिकक्षेषु ।
उत्पत्तिर्भवति सदा अन्येषु च तनुप्रदेशेषु ॥

---

१ तवेप्पइ क । २ अस्मादग्रे अयं पाठ ख-पुस्तके । उक्तं च पंचसंग्रहटीकायां गतिमार्गणायां अपर्याप्ता नरा. कदाचिदुत्पद्यन्ते कदाचिनेत्यपर्याप्ता नराश्च सम्मूर्छिमा ये मनुष्या उत्पद्यन्ते नेतरे, ते च चक्रवर्तिस्कन्धावारादीनां स्त्रीणां कक्षोपस्थस्तनान्तरादिदेशेषूत्पद्यन्ते । उक्तं च—

ण हु अत्थि तेण तेसिं इत्थीणं दुविहसंजमोद्धरणं ।
संजमधरणेण विणा ण हु मोक्खो तेण जम्मेण ॥ ९५ ॥

न ह्यस्ति तेन तासां स्त्रीणां द्विविधसंयमधारणं ।
संयमधारणेन विना न हि मोक्षस्तेन जन्मना ॥

अहवा एवं वयणं तेसिं जीवो ण होइ किं जीवो ।
किं णत्थि णाणदंसण उवओगो चेयणा तस्स ॥ ९६ ॥

अथवा एतद्वचनं तासां जीवो न भवति किं जीवः ।
किं नास्ति ज्ञानदर्शने उपयोग चेतना तस्य ॥

जइ एवं तो इत्थि धीवरिकल्लालिवेसआईणं ।
सव्वेसिमत्थि जीवो सयलाओ तरिहि सिज्झंति ॥ ९७ ॥

यद्येवं तर्हि स्त्री धीवरीकल्लारिकावेश्यादीनां ।
सर्वासामस्ति जीवो सकलास्तर्हि सिद्ध्यन्ति ॥

तम्हा इत्थीपज्जय पडुच्च जीवस्स पयडिदोसेण ।
जाओ अभव्वकालो तम्हा तेसिं ण णिव्वाणं ॥ ९८ ॥

तस्मात्स्त्रीपर्यायं प्रतीत्य जीवस्य प्रकृतिदोषेण ।
जातः अभव्यकालः तस्मात्तासां न निर्वाणं ॥

अइउत्तमसंहणणो उत्तमपुरिसो कुलग्गओ संतो ।
मोक्खस्स होइ जुग्गो णिग्गंथो धरियजिणलिंगो ॥ ९९ ॥

यत्री (कि) मुद्गलभूमृच्छ्रमभूम्युत्कटभूभृतां ।
स्कन्धावारसमूहेषु मलमोचारभूमिषु ॥ १ ॥
शुक्रसिंघाणकश्लेष्मकर्णदन्तमलेषु च ।
अत्यन्ताशुचिदेहेषु सद्यः सम्मूर्च्छयन्ति ये ॥ २ ॥
भूत्वा घनाङ्गुलासंख्याभागमात्रशरीरकाः ।
आशु नश्यत्यपर्याप्तास्ते स्युः सम्मूर्छिमा नराः ॥ ३ ॥

१ पज्जायं ख । २ सेण ख । ३ ओ ख ।

नोकर्मकर्माहारो कवलाहारश्च लेपाहारश्च ।
ओजो मनोऽपि च क्रमशः आहारः षड्विधो ज्ञेयः ॥

णोकम्मकम्महारो जीवाणं होइ चउगइगयाणं ।
कवलाहारो णरपसु रुक्खेसु य लेप्पमाहारो ॥ १११ ॥

नोकर्मकर्माहारो जीवानां भवन: चतुर्गतिगतानां ।
कवलाहारो नरपशूनां वृक्षेषु च लेपाहारः ॥

पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं ।
देवेसु मणाहारो चउव्विहो णत्थि केवलिणो ॥ ११२ ॥

पक्षिणामोज-आहारः अण्डमध्येषु वर्तमानानां ।
देवेषु मन-आहारः चतुर्विधो नास्ति केवलिनः ॥

णोकम्मकम्महारो उवयारेण तस्स आयमे भणिओ ।
ण हु णिच्छएण सो वि हु स वीयराओ परो जम्हा ॥११३॥

नोकर्मकर्माहारौ उपचारेण तस्यागमे भणितौ ।
न हि निश्चयेन सो पि हि स वीतरागः परो यस्मात् ॥

जो जेमइ सो सोवेइ सुत्तो अण्णे वि विसयमणुहवइ ।
विसए अणुहवमाणो स वीयराओ कहं णाणी ॥ ११४ ॥

यो जेमति स स्वपिति सुप्तो अन्यानपि विषयाननुभवति ।
विषयाननुभवमानः स वीतरागः कथं ज्ञानी ॥

तम्हा कवलाहारो केवलिणो णत्थि दोहिं वि णएहिं ।
मण्णंति य आहारं जे ते मिच्छायअण्णाणी ॥ ११५ ॥

तस्मात्कवलाहारः केवलिनो नास्ति द्वाभ्यामपि नयाभ्यां ।
मन्यन्ते चाहारं ये ते मिथ्याज्ञानिनः ॥

---

१ ले क । २ ना ख ।

अण्णं तं इय उत्तं संसयमिच्छत्तकलियभावेण ।
अम्हं पि थविरकप्पो कंबलगहणेण ण हु दोसो ॥ ११६ ॥

अन्यदपि तु तैः संशयमिथ्यात्वकलितभावेन ।
अस्माकं स्थविरकल्पे कम्बलग्रहणेन न हि दोषः ॥

कंबलि पत्तं दुद्धिय दंडं कणयं च रयणभंडाइं ।
सग्गगमणणिमित्तं मोक्खस्स य होइ णिब्भंतं ॥ ११७ ॥

कम्बलं पात्रं दुग्धिकं दण्डं कनकं च रत्नभाण्डादीनि ।
स्वर्गगमननिमित्तं मोक्षस्य च भवति निर्भ्रान्तम् ।

ण उ होइ थविरकप्पो गिहत्थकप्पो हवेइ फुडु एसो ।
इय सो[1] धुत्तेहिं कओ थविरकप्पस्स भग्गेहिं ॥ ११८ ॥

न तु भवति स्थविरकल्पो गृहस्थकल्पो भवति स्फुटमेषः ।
इति धूर्तैः कृतः स्थविरकल्पस्य भङ्गैः ॥

दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य ।
सो जिणकप्पो उत्तो[2] उत्तमसंहणणधारिस्स ॥ ११९ ॥

द्विविधो जिनैः कथितो जिनकल्पस्तथा च स्थविरकल्पश्च ।
स जिनकल्प उक्त उत्तमसंहननधारिणः ॥

जत्थ ण कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि ।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुण्हिक्का ॥ १२० ॥

यत्र न कण्टकलग्ने पादे नयनयो रजःप्रविष्टे ।
स्फेटयन्ति स्वयं मुनयः परापहारे च तूष्णीकाः ॥

---

१ क गाहांतिमसमूहपाठे इत्यनेन आक्षेपे गम्यते ।   २ सोक्खसयेहिं ख   ३ कहिओ ख ।

जलथलगिरिगुहाइं गमणे मग्गे य जम्म छम्मासं ।
अच्छंति णिराहारा काओसग्गेण छम्मासं ॥ १२१ ॥

जलस्थलगिरिगुहासु गमने मार्गे च यावत् षण्मासं ।
तिष्ठन्ति निराहाराः कायोत्सर्गेण षण्मासं ॥

एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य ।
चत्तासेसकसाया मोणवई कंदरावासी ॥ १२२ ॥

एकादशाङ्गधारिणः एके धर्मशुक्लध्यानिनश्च ।
त्यक्ताशेषकषायाः मौनव्रताः कन्दरावासिनः ॥

बहिरंतरगंथचुया णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो ।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया समणा ॥१२३॥

बाह्याभ्यन्तरग्रन्थच्युता निःस्नेहा निःस्पृहाश्च यतिपतयः ।
जिना इव विहरन्ति सदा ते जिनकल्पे स्थिताः श्रमणाः ॥

थविरकप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो ।
पंचचेलच्चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥ १२४ ॥

स्थविरकल्पोऽपि कथितः अनगाराणां जिनेन स एषः ॥
पंचचेलत्यागोऽकिंचनत्वं च प्रतिलेखनं ॥

पंचमहव्वयधरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्ते ।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥ १२५ ॥

---

१ समिया. ख । २ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके ।

अंडजबुंडजरोमजचर्मजवल्कजपंचचेलानि ।
परिहृत्य तृणजचेलं यो गृह्णीयान्न भवेत् स यतिः ॥ १ ॥
रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥ २ ॥

स्वपरोपकारार्थं त्रिविधोज्झितं पक्वान्नं कल्पनीयम् ।
भाविरोगे च दत्तं कालेऽपि च प्रार्थना भिक्षा ॥

दुविहतवे उज्जमणं दुव्विहआवासएहिं अणवरयं ।
णिद्दिसइणं णिग्गंथो जिणवरपडिमपडिग्गहणं ॥१२६॥

द्विविधतपसि उद्यमनं द्विविधावश्यकैः अनवरतं ।
निर्दिष्टवान् निर्ग्रन्थः जिनवरप्रतिमापरिग्रहणं ॥

संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण ।
पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥ १२७ ॥

संहननस्य गुणेन च दुःषमाकालस्य तपःप्रभावेन ।
पुरनगरग्रामवासिनः स्थविरे कल्पे स्थिता जाताः ॥

उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स ।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥ १२८ ॥

उपकरणं तद्गृहीतं येन न भङ्गो भवति चर्यायाः ।
गृहीतं पुस्तकदानं योग्यं यस्य तत्तेन ॥

समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए ।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥ १२९ ॥

समुदायेन विहारो धर्मस्य प्रभावनं स्वशक्त्या ।
भव्यानां धर्मश्रवणं शिष्याणां च पालनं ग्रहणं ॥

संहणणं अइणिचं कालो सो दुस्समो मणो चवलो ।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभरधरणउच्छहिया ॥१३०॥

संहननमतिनीचं कालः स दुःषमो मनश्चपलं ।
तथापि हि धीराः पुरुषा महाव्रतभारधारणोत्साहाः ॥

वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण ।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे ॥ १३१ ॥

वर्धमहर्षिणा पुनः सकर्म हन्यते येन कायेन ।
तत्संप्रति वर्तेत हि निर्ग्रन्थति हीनसंहननेन ॥

एवं दुविहो कप्पो परमजिणंदेहिं अक्खिओ णूणं ।
अण्णो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ ॥ १३२ ॥

एवं द्विविधः कल्पः परमजिनेन्द्रैः कथितो नूनं ।
अन्यः पाषण्डिकृतो गृहस्थकल्पो ग्रन्थपरिकलितः ॥

दुद्धरतवस्स भग्गा परिसहविसएहिं पीडिया जे य ।
जो गिहकप्पो लोए स थविरकप्पो कओ तेहिं ॥ १३३ ॥

दुर्धरतपसः भग्नाः परीषहविषये पीडिता ये च ।
यो गृहकल्पो लोके स स्थविरकल्पः कृतः तैः ॥

णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण ।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥ १३४ ॥

निर्ग्रन्थो जिनवृषभो निर्ग्रन्थं प्रवचनं कृतं तेन ।
तस्यानुमार्गलग्नाः सर्वे निर्ग्रन्थमहर्षयः ॥

जे पुण भूसियगंथा दूसियणिग्गंथलिंगवयभट्टा ।
तेहिं सगंथं लिंगं पयडियं तित्थणाहस्स ॥ १३५ ॥

ये पुनर्भूषितग्रन्था दूषितनिर्ग्रन्थलिंगव्रतभ्रष्टाः ।
तैः सग्रन्थं लिंगं प्रकटितं तीर्थनाथस्य ॥

जं जं संयमायरियं तं तं णिरुआयमेण अलिएण ।
लोए वक्खाणित्ता अण्णाणी वंचिआ तेहिं ॥ १३६ ॥

---

१ जेहिं ख । २ प ख । ३ समय क । ४ ओ क । ५ ण ख । ६ अस्मादग्रे इदं गाथासूत्रमुपलभ्यते—

णिग्गंथं दूसित्ता णिंदित्ता अप्पणं पसंसित्ता ।
जीवेइ मूढलोए कयमाय गहियवत्थुदव्वेहिं ॥ १ ॥

तत्तु अस्मिन् ग्रन्थे १५४ गाथासूत्रादग्रेऽस्ति, ख-पुस्तके तु पुनरपि ।

तत्थ वि गयस्स जायं दुब्भिक्खं दारुणं महाघोरं।
जत्थ वियारिय उयरं खद्धो रंकेहि कूरंत्ति ॥ १४२ ॥

तत्रापि गतस्य जातं दुर्भिक्षं दारुणं महाघोरं।
यत्र विदार्योदरं भक्षितः रंकैः कूर इति ॥

तं लहिऊण णिमित्तं गहियं सव्वेहि कंबली दंडं।
दुद्धियपत्तं च तहा पावरणं सेयवत्थं च ॥ १४३ ॥

तल्लब्ध्वा निमित्त गृहीतं सर्वैः कम्बलं दण्डं।
दुग्धिकपात्रं च तथा प्रावरणं श्वेतवस्त्रं च ॥

चत्तं रिसिआयरणं गहिया भिक्खा य दीणवित्तीए।
उवविसिय जाइऊणं भुत्तं वसहीसु इच्छाए ॥ १४४॥

त्यक्त ऋष्याचरणं गृहीता भिक्षा च दीनवृत्या।
उपविश्य याचयित्वा भुक्त वसतिष्विच्छया ॥

एवं वट्टंताणं कित्तियकालम्मि चावि परियलिए।
संजायं सुब्भिक्खं जंपइ ता संतिआइरिओ ॥ १४५ ॥

एवं वर्तमानानां कियत्काले चापि परिचलिते।
संजातं सुभिक्षं जल्पति तान् शान्त्याचार्यः ॥

आवाहिऊण संघं भणियं छंडेह कुत्थियायरणं।
णिंदिय गरहिय गिण्हह पुणरवि चरियं मुणिंदाणं ॥१४६

आहूय संघं भणितं त्यजत कुत्सिताचरणं।
निंदत गर्हत गृह्णत पुनरपि चारित्रं मुनीन्द्राणां ॥

तं वयणं सोऊणं उत्तं सीसेण तत्थ पढमेण।
को सक्कइ धारेउं एयं अइदुद्धरायरणं ॥ १४७ ॥

---

१ भीमं रा। २ कूरोल रा। ३ जिनचन्द्रेण।

मसयरपूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि ।
सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा णियत्तेण ॥ १६१ ॥

मस्करिपूरणऋषिरुत्पन्नः पार्श्वनाथतीर्थे ।
श्रीवीरसमवशरणे अगृहीतध्वनिना निर्वृत्तेन ॥

बहिणिग्गएण उत्तं मज्झं एयारसंगधारिस्स ।
णिग्गइ झुणी ण अरुहो विणिग्गया सा समीसस्स ॥१६२॥

बहिर्निर्गतेन उक्तं मह्यं एकादशांगधारिणे ।
निर्गच्छति ध्वनि न अर्हन् विनिर्गता सा स्वशिष्याय ॥

ण मुणइ जिणकहियसुयं संपइ दिक्खा य गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ ॥ १६३ ॥

न जानाति जिनकथितं श्रुतं संप्रति दीक्षां च गृहीतः गौतमः।
विप्रो वेदभाषी तस्मान्मोक्षो न ज्ञानतः ॥

अण्णाणाओ मोक्खं एवं लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो ण अत्थि कोई सुण्णं झाएह इच्छाए ॥ १६४ ॥

अज्ञानतो मोक्ष एवं लोकान् प्रकटमानो हि ।
देवो नास्ति कश्चिच्छून्य ध्यायत इच्छया ॥

एवं पंचवियारं मिच्छत्तं सुग्गईणिवारणयं ।
दुक्खसहस्सावासं परिहरियव्वं पयत्तेण ॥ १६५ ॥

एवं पचप्रकारं मिथ्यात्वं सुगतिनिवारणकं ।
दुःखसहस्रावासं परिहर्तव्यं प्रयत्नेन ॥

मिच्छत्तेणाच्छण्णो अणाइकालं चउगईभुवणे ।
भमिओ दुक्खक्कंतो जीवो देहाई गिण्हंतो ॥ १६६ ॥

---

१ हे ख । २ णिग्गयावि क । ३ न क । ४ द्वि ख । ५ प ख । ६ भमणे ख । भवणे क ।

[illegible] ।

[illegible] ॥

णरइंदियाइंपहुइ जावय पंचक्खविविह जोणीसु ।
भमिहइ भविस्सयाले पुणरवि मिच्छत्तपरिहओ ॥१६७॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

अइरउद्दारुद्दो विसमे काऊण विविहपावाइं ।
अविधाणंतो धम्मं उप्पज्जइ विविधणरएसु ॥ १६८ ॥

आर्तरौद्ररौद्रो विषमा [illegible] ।
अजानान धर्म [illegible] ॥

अहवा जइ कहव पुणो पावइ मणुयत्तणं च संसारे ।
जुअंगमिला संजोए लहइ ण ठेगो कुलं आऊ ॥ १६९ ॥

अथवा यदा कथमपि पुनः प्राप्नोति मनुष्यत्वं च संसारे ।
[illegible] संयोगे लभते न [illegible] आयुः ॥

पउरं आरोयत्तं इंदियपुण्णत्तणं च जोव्वणियं ।
सुंदररूवं लच्छी अच्छइ दूरेण लप्पंतो ॥ १७० ॥

प्रचुरमारोग्यत्वं इन्द्रियपूर्णत्वं च यौवनं ।
सुन्दररूपं लक्ष्मी आस्ते दूरेण [illegible] ॥

जइ कह वि हु एयाइं पावइ सव्वाइं तो ण पावेई ।
धम्मं जिणेण कहियं कुच्छियगुरुमग्गलग्गाओ ॥ १७१ ॥

यदि कथमपि हि एतानि प्राप्नोति सर्वाणि तर्हि न प्राप्नोति ।
धर्मं जिनेन कथितं कुत्सितगुरुमार्गलग्न ॥

इत्यज्ञानमिथ्यात्व पचमम् ।

---

१ कुयरागला ख ।

एते निरनुकम्पा [illegible] नीरसाभिरताः ।
[illegible] गृहीतकर्मा दुःखार्ता ॥

ण मुणंति गयं धम्मं अमुणियतत्ताणगुरुमट्टा ।
पउरकसाया माई कह अप्पेणिं कुडे तिंति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति गतं धर्मं अमुणितत्त्वार्थगुरुभ्रष्टाः
प्रचुरकषाया मायाविनः कथं आत्मानं कूपे ब्रुवन्ति ॥

रंडा मुंडा चंडी सुंडी दिक्खिदा धम्मदारा
सीसे कंता कामासत्ता कालिया सा वियारं ।
मज्जं मंसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवसोक्खं च ।
कउले धम्मे विसये रम्मे तं जि हो मग्गमोक्खं ॥१८२॥

रंडा मुण्डा चण्डी शौंडी दीक्षिता धर्मदारा
शिष्या कान्ता कामासक्ता कालिका सा विकारा ।
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवसुखं च ।
कौले धर्मे विषये रम्ये तेनैव भवति स्वर्गमोक्षौ ॥

रत्तामत्ता कंतासत्ता दूसियाधम्ममग्गा
दुट्ठा कट्ठा धिट्ठा लुट्ठा णिंदिदमोक्खमग्गा ।
अक्खे सुक्खे अग्गे दुक्खे णिब्भरं दिण्णचित्ता
णेरइयाणं दुक्खट्ठाणं तम्म णिम्मा पउत्ता ॥ १८३ ॥

रक्तमत्ताः कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गा,
दुष्टा कष्टा धृष्टा अनृतवादिन निन्दितमोक्षमार्गा ।

१ चंडी ख। २ वियरो क। ३ जीहमुम ख। ४ जिह्नी मोक्खमोक्ख. ख। ५ कामा ख। ६ डु क। ७ या ख।

आक्रो सुखे आो दुःखे निर्भ्रान्त दत्तचित्ताः
नारकाणां दुःखस्थाने तस्य शिष्याः प्रोक्ताः ॥

मज्जे धम्मो मंसे धम्मो जीवहिंसाइं धम्मो ।
राई देवो दोसी देवो माया सुण्णं पि देवो
रत्तामत्ता कंतासत्ता जे गुरु ते वि य पुज्जा
हाहा कहं णट्ठो लोओ अट्टमट्टं कुणंतो ॥ १८४ ॥

मद्ये धर्मो मांसे धर्मो जीवहिंसायां धर्मः ।
रागी देवो द्वेषी देवो माया शून्यमपि देवः ।
रक्तमत्ताः कान्तासक्ता ये गुरवस्तेऽपि च पूज्या
हाहा कष्टं नष्टो लोकः अष्टमष्टं कुर्वन् ॥

धूयमायपरिवहिणि अण्णावि पुत्तत्थिणि ।
आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पे ।
जह रमियकामाउरेण वेयगब्वे उप्पण्णदप्पे ॥
चंभणि-छिंपिणि-डोंबि-नडिय-वरडि-रज्झइ-चम्मारि ।
कयले गमइ गमागमइ सेह भुत्ति य परणारि ॥१८५॥

दुहितामातृभगिन्य अन्या अपि पुत्रार्थिनी ।
आयाति च व्यासवचने प्रकटयति विप्रेण ।
यथा रमिता कामातुरेण वेदगर्वेणो त्पन्नदर्पेण ॥
ब्राह्मणी-छीम्पी-डोम्बी-नटी-वरटी-रजकी-चर्मकारी ।
कदिले समये गमागमनं तथा भुक्ता च परनारी ॥

---

१ रो ग। २ पु ग। ३ ला. क। ४ ण्ण. क। ५ रामाण् ग। ६ ग. क। ७ अस्मादग्रे श्लोको न कोश।

स्वपत्नीत्यागतो नारी यो न काम्यते नरः।
स हत्या अवेक्षय पूर्वकार्यादिदृश ॥ १ ॥

एते विपयासक्ताः कद्गुमत्ताश्च जीवदयारहिताः ।
परस्त्रियधनहरणरता अगृहीतधर्मा दुराचाराः ॥

ण मुणंति सयं धम्मं अमुणियतच्चत्थयारपब्भट्ठा ।
पउरकमाया माई कह अण्णेसिं फुडं विंति ॥ १८१ ॥

न जानन्ति स्वयं धर्मं अमुनिततत्त्वार्थाचारप्रभ्रष्टाः
प्रचुरकषाया मायाविनः कथं अन्यान् स्फुटं ब्रुवन्ति ॥

रंडा मुंडा थेंडी मुंडी दिक्खिदा धम्मदारा
सीसे कंता कामासत्ता कामिया मा वियारा ।
मज्जं मंसं मिट्ठं भक्खं भक्खियं जीवमोक्खं च ।
कउले धम्मे विसये रम्मे तं जि हो सग्गमोक्खं ॥१८२॥

रंडा मुण्डा स्थण्डी शौंडी दीक्षिता धर्मदारा
शिष्या कान्ता कामासक्ता कामिता मा विकारा ।
मद्यं मांसं मिष्टं भक्ष्यं भक्षितं जीवमुक्त्यं च ।
कपिले धर्मे विषये रम्ये तेनैव भवत स्वर्गमोक्षौ ॥

रत्तामत्ता कंतासत्ता दूसियाधम्ममग्गा
दुट्ठा कट्ठा धिट्ठा मुट्ठा णिंदिओमोक्खमग्गा ।
अक्खे सुक्खे अग्गे दुक्खे णिब्भर दिण्णचित्ता
घोरट्ठयाणं दुक्खट्ठाणं तम्म णिम्मा पउत्ता ॥ १८३ ॥

रक्तमत्ता. कान्तासक्ता दूषितधर्ममार्गा
दुष्टा कष्टा धृष्टा अनृतवादिन निन्दितमोक्षमार्गा. ।

१ थंडी स । २ दिक्खा क । ३ अंडमुत स । ४ जिहा सोक्खसग्गो क । ५ कामा ख । ६ दु क । ७ सा ख ।

अण्णाणधम्मलग्गो जीवो दुक्खाण पूरिओ होइ ।
चउगइ गईहिं णिवडइ संसारे भमिहि हिंडंतो ॥ १८६ ॥

अज्ञानधर्मलग्नो जीवो दुःखाना पूरितो भवति ।
चतुर्गतौ गतिभिः निपतति संसारे भ्रमति हिण्डन् ॥

जह पाहाणतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरणीतोए ।
वुड्डइ विगयाधारे णिवडइ महण्णवावत्ते ॥ १८७ ॥

यथा पाषाणतरण्डे लग्न पुरुषो हि नीरणीतोये ।
ब्रुडति विगताधार. निपतति महार्णवावर्ते ॥

कुच्छियगुरुकयसेवा विविहावइपउरदुक्खआवत्ते ।
तह य णिमज्जइ पुरिसो संसारमहोवही भीमे ॥ १८८ ॥

कुत्सितगुरुकृतसेवा विविधापत्प्रचुरदुःखावर्ते ।
तथा च निमज्जति पुरुष संसारमहोदधौ भीमे ॥

वयभट्ठकुंठरुद्देहिं णिट्टुरणिक्किट्ठदुट्ठचिट्ठेहिं ।
अप्पाणं णासित्ता अण्णो वि य णासिओ लोगो ॥ १८९ ॥

व्रतभ्रष्टकुण्ठरुद्रै निष्ठुरनिकृष्टदुष्टचेष्टै ।
आत्मानं नाशयित्वा अन्योऽपि च नाशितो लोकः ॥

इय अण्णाणी पुरिसा कुच्छियगुरुकहियमग्गसंलग्गा ।
पावंति णरयतिरियं णाणादुहसंकडं भीमं ॥ १९० ॥

इति अज्ञानिन पुरुषा कुत्सितगुरुकथितमार्गसंलग्नाः ।
प्राप्नुवन्ति नरकतिर्यच नानादुःखसंकट भीमं ॥

एवं णाऊण फुडं सेविज्जइ उत्तमो गुरू कोई ।
बहिरंतरगंथचुओ णिग्गियणंतो मुणाणी य ॥ १९१ ॥

---
५ रो स ।

एतस्मिन् गुणस्थाने कालो नास्ति समयमात्रः यस्मात् ।
तस्माद्विनाशो न हि संक्षेपेण तेन स उक्तः ॥

परिणामियभावगयं विदियं सासायणं गुणट्ठाणं ।
सम्मत्तसिहरपडियं अपत्तमिच्छत्तभूमितलं ॥ १९७ ॥

पारिणामिकभावगतं द्वितीयं सासादनं गुणस्थानं ।
सम्यक्त्वशिखरपतितं अप्राप्तमिथ्यात्वभूमितलं ॥

सासायणसम्मत्त–इति सासादनसम्यक्त्वम् ।

सम्मामिच्छुदएण य सम्मिस्सं णाम होइ गुणठाणं ।
खयउवसमभावगयं अंतरजाई समुद्दिट्ठं ॥ १९८ ॥

सम्यक्त्वमिथ्यात्वोदयेन च सम्मिश्रं नाम भवति गुणस्थानं ।
क्षयोपशमभावगतं अन्तरजाति समुद्दिष्टं ॥

वडवाए उप्पण्णो खरेण जह हवइ इत्थ वेसरओ ।
तह तं सम्मिस्सगुणं अगहियगिहसयलसंजमणं ॥ १९९ ॥

वडवाया उत्पन्नः खरेण यथा भवति अत्र वेसरः ।
तथा स सम्मिश्रगुणः अगृहीतगृहिसकलसंयमः ॥

तत्थ ण बंधइ आउं कुणइ ण कालो हु तेण भावेण ।
सम्मं वा मिच्छं वा पडिवज्जिय मरइ णियमेण ॥ २०० ॥

तत्र न बध्नाति आयुः करोति न कालो हि तेन भावेन ।
सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥

अट्टरउद्दं झायइ देवा सव्वे वि हुंति समणीया ।
धम्मा रुद्दे पसरा गुणागुणं किं पि ण विणिएइ ॥२०१॥

णाणाकुलाइं जाइं णाणाजोणी य आउनिहाइं ।
णाणादेहगयाइं वण्णा रूवाइं विविहाइं ॥ २०७ ॥

नानाकुलानि जातीः नानायोनीश्च आयुर्विभागादीनि ।
नानादेहगतान् वर्णान् रूपाणि विविधानि ॥

गिरिसरिसायरदीवो गामागमाइं धरणि आयासं ।
जो कुणइ खणद्धेणं चिंतियमित्तेण सव्वाइं ॥ २०८ ॥

गिरिसरित्सागरद्वीपान् ग्रामागमान् धरणीमाकाशं ।
यः करोति क्षणार्धेन चिन्तितमात्रेण सर्वान् ॥

किं सो रज्जणिमित्तं तवसा तावेइ णिच्च णियदेहं ।
तिहुवणकरणसमत्थो किं ण कुणइ अप्पणो रज्जं ॥ २०९ ॥

किं स राज्यनिमित्त तपसा तापयति नित्यं निजदेहं ।
त्रिभुवनकरणसमर्थः किं न करोति आत्मनो राज्यं ॥

अच्छरतिलोत्तमाए णट्टं दट्ठूण रायरसरसिओ ।
तवभट्ठो चउव्वयणो जाओ सो मयणवसचित्तो ॥ २१० ॥

अप्सरस्तिलोत्तमाया नृत्यं दृष्ट्वा रागरसरसिकः ।
तपोभ्रष्टः चतुर्वदनः जातः स मदनवशचित्तः ॥

छंडिय णियवुड्ढत्तं पहुत्तणं देवत्तणं तवोचरियं ।
कामाउरो अलज्जो लग्गो मग्गेण सो तिस्स ॥ २११ ॥

त्यक्त्वा निजवृद्धत्वं प्रभुत्वं देवत्वं तपश्चर्यं ।
कामातुरः अलज्जः लग्नः मार्गेण स तस्याः ॥

हसिओ सुरेहिं कुद्धो (ड्ढो) खरसीसो भक्खिउं पउत्तो सो ।
संकरकरखुडियसिरो विरहपलित्तो णियत्तो य ॥ २१२ ॥

---

१ णाणाकुलजाइ तहा–ख. । २ भाषायां बहुवचन इति लक्ष्यते । ३ पहुत्तवत्तणं ख ।

स विरंचिः कथं संभवति त्रिलोकस्य कर्ता ।
य आत्मानं हि न तारयति स्फेटयति विरहविकारं ॥

णत्थि धरा आयासं पवणाणलतोयजोयससिसूरा ।
जइ तो कत्थ ठिदेणं बंभा रइयं तिलोओत्ति ॥ २१७ ॥

न सन्ति धरा आकाशं पवनानलतोयज्योतिःशशिसूर्याः ।
यदि तर्हि कुत्र स्थितेन ब्रह्मणा रचितः त्रिलोक इति ॥

कत्तित्तं पुण दुविहं वत्थुअ कत्तित्त तह य विक्किरियं ।
घडपडगिहाइं पढमं विक्किरियं देवयारइयं ॥ २१८ ॥

कर्तृत्वं पुनः द्विविधं वस्तुनः कर्तृत्वं तथा च वैक्रियिकं ।
घटपटगृहादि प्रथमं वैक्रियिकं देवतारचितं ॥

जइ तो वत्थुब्भूओ रइओ लोओ विरिंचिणा तिविहो ।
तो तस्स कारणाइं कत्थुवलद्धाइं दव्वाइं ॥ २१९ ॥

यदि स वस्तुभूतो रचितो लोको विरंचिना त्रिविधः ।
तर्हि तस्य कारणानि कुत्र लब्धानि द्रव्याणि ॥

अह विक्किरिओ रइओ विज्जाथामेण तेण बंभेण ।
कह थाइ दीहकालं अवत्थुभूओ अणिच्चोत्ति ॥ २२० ॥

अथ विक्रियारचितो विद्यास्थाम्ना तेन ब्रह्मणा ।
कथं तिष्ठति दीर्घकालं अवस्तुभूतोऽनित्य इति ॥

तम्हा ण होइ कत्ता बंभो सिरछेयविणडणं पत्तो ।
छलिओ तिलोगमाए सामण्णपुरिसुव्व असमत्थो ॥२२१॥

तस्मान्न भवति कर्ता ब्रह्मा शिरश्छेदविनष्टं प्राप्तः ।
छलितस्त्रिलोकमध्ये सामान्यपुरुष इवासमर्थः ॥

---

१ अ स । २ अ° थ । ३ आ स । ४ आ म । ५ सिरछेयविणडणं पत्तो ब।

जो परमहिलाकज्जे छंडइ पहुत्तणं मओ णियमं ।
सो ण हवइ परमप्पा कह देवो हवइ पुज्जो य ॥ २२२ ॥

य. परमहिलाकार्येण त्यजति प्रभुत्वं मदां नियमं ।
स न भवति परमात्मा कथं देवो भवति पूज्यश्च ॥

सुग्गीवविरहउण तम्हा सुगवेसहं को वि परमबंभाणो ।
दहअट्ठदोसरहिओ वीयराओ परो णाणी ॥ २२३ ॥

सुग्रीवं त्यक्त्वा तस्मात् सुगवेषय कमपि परमब्रह्माणं ।
दशाष्टदोषरहितं वीतरागं परं ज्ञानिनं ॥

किम्मो जइ धरइ जयं सूयररूवेण दाढअग्गेण ।
ता सो कहिं ठवइ पंए कुम्मे कुम्मो वि कहिं ठाइ ॥२२४॥

कूर्मो यदि धारयति जगत् सूकररूपेण दंष्ट्राग्रेण ।
तर्हि स कुत्र तिष्ठति पदे कूर्मे कूर्मोऽपि कुत्र तिष्ठति ॥

अह छुहिऊण मउअरो तिजयं पालेइ महुमहो णिच्चं ।
किं सो तिजयवहिल्थो तिजयवहिल्थेण किं जाओ ॥ २२५ ॥

अथ स्पर्शित्वा सूकरं (!) त्रिजगत् पालयति मधुमदः नित्यं ।
किं स त्रिजगद्बहिस्थः त्रिजगद्बहिस्थेन किं जातं ॥

जइया दहरहपुत्तो रामो (सो) णिवसेइ दंडरण्णम्मि ।
लंकाहिवेण छलिओ हरिया भज्जा पवंचेण ॥ २२६ ॥

यत्र च दशरथपुत्रो रामो निवसति दण्डकारण्ये ।
लंकाधिपतिना छलितः हृता भार्या प्रपंचेन ॥

विरहेण रुवइ लिलवइ पडेइ उट्ठेइ णियइ सोएइ ।
णउ मुणइ केण णाया पुच्छइ वणमायवो मूढो ॥ २२७ ॥

---

१ सो ख। २ दसणए क। ३ क. ख। ४ अस्मादग्रेऽयं श्लोकः ख-
तके। (अग्रे)

विरहेण गोहिनि निष्पति पतति उन्नियुत्ति पत्यति यतिनि ।
न हि मन्ये केन ज्ञात पश्यति वनमालाकान् मुड. ॥

जइ उअरम्मि तिजयं ता सो किं तस्स वाणरा विन्ना ।
मेलाविउण उयही बंधइ सेलेहिं सेउमि ॥ २२८ ॥

यदि उदरे त्रिजगत् तर्हि न किं तत्र वानरान् अज्ञात् ।
मेलापयित्वा उदधौ बध्नाति शैलैः सेतुमिति ॥

किं पट्ठवेइ दूयं अंगयं किं सामभेयदंडाइं ।
अलहंतो किं जुज्जइ कोवं काऊण सत्थेहिं ॥ २२९ ॥

किं प्रस्थापयति दूतं अङ्गदं किं सामभेददण्डानि ।
अलभमानः किं युध्यति कोपं कृत्वा शस्त्रैः ॥

किं दहवयणो सीया गहिऊणं उवरवाहिरे थक्को ।
जं हेलाइ ण तरइ रिउ हणिउं आणिउं भज्जा ॥ २३० ॥

किं दशवदनः सीतां गृहीत्वा बहिः स्थितः ।
यत् हेलया न शक्नोति रिपुं हत्वा आनेतुं भार्या ॥

जइ तिजयपालणत्थे संजाया तस्स एरिसी सत्ती ।
तो किं तिजयं दड्ढुं हरे(रे)णं संपिच्छमाणस्स ॥ २३१ ॥

यदि त्रिजगत्पालनार्थे संजाता तस्यैतादृशी शक्तिः ।
तर्हि किं त्रिजगत् दग्धं हरेण संप्रेक्षमाणस्य ॥

जो ण जाणइ जो ण जाणइ हरिय णियभज्ज ।
पुच्छइ वणसावयइं अह मुणइ आणउ ण सकइ ।

भो भो भुजंग ! तरुपल्लवलोलजिह्व बन्धूकपुष्पदलसन्निभलोहिताक्ष ।
पृच्छामि ते पवनभोजिन् कोमलाङ्गी काचित्त्वया शरदचन्द्रमुखी न दृष्टा ॥१॥

१ किं पट्ठावइ दूओ ख । २ हरिणे ख ।

यदि घृतं नवनीतं नवनीतं पुनरपि भवेद्यदि दुग्धं ।
तर्हि सिद्धिगतो जीवः पुनरपि देहादिकं गृह्णाति ॥

रद्धो क्रूरो पुणरवि खित्ते खित्तो य होइ अंकूरो ।
जइ तो मोक्खं पत्ता जीवा पुण इंति संसारे ॥ २३७ ॥

रद्धः क्रूरः पुनरपि क्षेत्रे क्षिप्तश्च भवेदंकुरः ।
यदि तर्हि मोक्षं प्राप्ता जीवा पुनरायान्ति संसारे ॥

जइ णिक्कलो महप्पा विण्हू णिस्सेसकम्ममलचत्तो ।
किं कारणमप्पाणं संसारे पुण वि पाडेइ ॥ २३८ ॥

यदि निष्कलो महात्मा विष्णुः निःशेषस्वकर्ममलच्युतः ।
किं कारणमात्मानं संसारे पुनरपि पातयति ॥

अहवा जइ कलसहिओ लो(इ)यवावारदिण्णणियचित्तो ।
तो संसारी णियमा परमप्पा हवइ ण हु विण्हू ॥ २३९ ॥

अथवा यदि कलसहितो लोकव्यापारदत्तनिजचित्तः ।
तर्हि ससारी नियमात् परमात्मा भवति न हि विष्णुः ॥

इय जाणिऊण णूणं णवणवदोसेहिं वज्जिओ विण्हू ।
सो अक्खइ परमप्पा अणंतणाणी अराई य ॥ २४० ॥

इति ज्ञात्वा नूनं नवनवदोषैर्वर्जितो विष्णुः ।
स कथ्यते परमात्मा अनन्तज्ञानी अरागी च ॥

एवं भणंति केई रुद्दो संहरइ तिहुवणं सयलं ।
चिंतामित्तेण फुडं णरणारयतिरियसुरमहियं ॥२४१॥

एवं भणन्ति केचित् रुद्रः संहरति त्रिभुवनं सकलं ।
चिन्तामात्रेण स्फुटं नरनारकतिर्यक्सुरमहितं ॥

---

१ उवेइ ख ।

णट्ठे अणेगलोए पच्छा सो कत्थ चिट्ठदे रुद्दो ।
इक्को नमंधयारो गोरी गंगा गया कत्थ ॥ २४२ ॥

नष्टेऽनेकलोके पश्चात् स कुत्र तिष्ठति रुद्रः ।
एकस्तमोऽन्धकारः (?) गौरी गंगा गता कुत्र ॥

जो डहइ एयगामं पावी लोएहिं वुच्चदे सो हु ।
जो पुण डहइ तिलोयं सो कह देवत्तणं पत्तो ॥ २४३ ॥

यो दहति एकग्रामं पापी लोकैरुच्यते स हि ।
यः पुनः दहति त्रिलोकं स कथं देवत्वं प्राप्तः ॥

जो हणइ एयगावी विप्पो वा सो वि इत्थ लोएहिं ।
गोबंभहच्चयारी पभणिज्जइ पावकारी सो ॥ २४४ ॥

यः हन्ति एकां गां विप्रं वा सोऽपि अत्र लोकैः ।
गोब्रह्महत्याकारी प्रभण्यते पापकारी सः ॥

जो पुण गोणारिपमुहे बाले वुड्ढे असंखलोयत्थे ।
संहारेइ असेसे तस्सेव हि किं भणिस्सामो ॥ २४५ ॥

यः पुनः गोनारीप्रमुखान् बालान् वृद्धान् असंख्यलोकस्थान् ।
संहरति अशेषान् तस्यैव हि किं भणिष्यामः ॥

अहवा जइ भणइ इयं सो देवो तस्स हवइ ण हु पावं ।
तो बंभसीसछेए बंभहच्चा कहं जाया ॥ २४६ ॥

अथवा यदि भणतीदं स देवः तस्य भवति न हि पापं ।
तर्हि ब्रह्मशिरश्छेदे ब्रह्महत्या कथं जाता ॥

किं हड्डमुंडमाला गंधे परिवहइ धूलिधूसरिओ ।
परिभमिओ तित्थाइं णरह कवालम्मि भुंजंतो ॥ २४७ ॥

---

१ एको क. । २ ए ग. । ३ नर क. ।

कि [illegible] [illegible] [illegible] पुरिसगुणेहि ।
परिभविनमाणीति [illegible] कराते पुमान ॥

जइ वि ण मा बंभहच्चा छिप्पइ कस्स तामला पावं ।
गलिओ पच्छायावग्गिणा सा निव्वो णिसावरेण ॥ २४८ ॥

यद्यपि न मां ब्रह्महत्या स्पृशति कस्य तावत् पापे ।
गलित पश्चात्तापाग्नि [illegible] निर्वापितेन ॥

णिहओ णिंगेण मुओ वग्घो गंगा ति कसणु गंजाओ ।
वाणारसिं न पत्तो मओ वि य नम्म मग्गेण ॥ २४९ ॥

निहत शृङ्गेण मृत व्याघ्र [illegible] [illegible] [illegible] ।
वाराणसी प्राप्त मृतोऽपि न नर्म मार्गेण ॥

गंगाजलं पविट्ठा जला ते दो वि बंभहच्चाए ।
रुद्दस्स करयलाओ नट्ठं पडियं कवालोत्ति ॥ २५० ॥

गंगाजले प्रविष्टौ यतौ तौ द्वावपि ब्रह्महत्याया ।
रुद्रस्य करे लग्न तत्र पतित कपालमिति ॥

जस्स गुरू सुरहिसुओ गंगातोएण छिक्कए हच्चा ।
सो देवो अण्णस्स य फेडइ कह मंतियं पावं ॥ २५१ ॥

यस्य गुरु सुरभिसुत गङ्गातोयेन छिद्यते हत्या ।
स देवोऽन्यस्य च स्फेटयति कथं मन्त्रितं पापं ॥

जो ण तरइ णियपावं गहियवओ अप्पणस्स फेडेउं ।
असमत्थो सो णूणं कत्तित्तविणासणे रुद्दो ॥ २५२ ॥

यो न शक्नोति निजपापं गृहीतव्रत आत्मन स्फेटयितुं ।
असमर्थः स नूनं कर्तृत्वविनाशने रुद्र ॥

१ शकेस्तरतीरपारचआ इत्यनेन शकेस्तरआदेशः ति प्रत्यये सति तरइ इति ।

णो बंभा कुणइ जयं किण्हो ण धरेइ हरइ णउ रुद्दो ।
एसो सहावसिद्धो णिच्चो दव्वेहिं संछण्णो ॥ २५३ ॥

न ब्रह्मा करोति जगत् [illegible]
एष स्वभावसिद्धः नित्यः [illegible] ॥

वस्तुच्छन्द ।

भमइ णग्गउ भमइ णग्गउ वसइ सुसमाणि ।
णररुंडसिरमंडियउ, णरकवालि भिक्खाइ भुंजइ ।
सहयारिउ गउरियहिं दुक्खभारु अप्पहो णिउंजइ ॥
जो बंभणेहं सिरकमले खुडिए न फेडइ दोसु ।
सो इसरु कह अवहरइ तिहुवणु करइ असेसु ॥२५४॥

भ्रमति नग्नो भ्रमति नग्नो वसति श्मशाने ।
नररुण्डशिरोमण्डितः नरकपाले भिक्षां भुनक्ति ।
सहकृत गौरीभिः दुःखभारं आत्मनि नियुंक्ते ॥
यो ब्रह्मणः शिरःकमले खण्डिते न स्फेटयति दोषं ।
स ईश्वरः कथमपहरति त्रिभुवनं करोति अशेषं ॥

वस्तुच्छन्दः ।

उत्तरंतउ उत्तरंतउ पवरसुरसरिहिं ।
पारासुर चलिउ मणु मुणे लज्जकेवट्टणंदिणि ।
आलिंगिय लपहेउ परिवामजाउ तावसु महामुणि ।
भारहु पुणु हुउ दीवहिं केम्मगहपव्वेण ।
जिणु मिलिवि के वेण जगि णिवडिय चवलमणेण ॥२५५॥

१ णग्गउ समइ क. । २ भिंभइ । ३ पारासुर क. । ४ य क । ५ इ. ख । मेलिवि क ।

दुविहं तं पुण भणियं अहवा तिविहं कहंति आयरिया ।
आणाए अविगमे वा सद्दहणं जं पयत्थाणं ॥ २६४ ॥

द्विविधं तत्पुनः भणितं अथवा त्रिविधं कथयन्त्याचार्याः ।
आज्ञया अधिगमेन वा श्रद्धानं यत् पदार्थानां ॥

खयउवसमं च खइयं उवसमसम्मत्त पुणु च उद्दिट्ठं ।
अविरइ विरयाणं पि य विरयाविरयाण ते हुंति ॥ २६५ ॥

क्षायोपशमं च क्षायिकं उपशमं सम्यक्त्वं पुनरुद्दिष्टं ।
अविरतानां विरतानामपि च विरताविरतानां तानि भवन्ति ।

कोहचउक्कं पढमं अणंतबंधीणिणामयं भणियं ।
सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तयं तिण्णि ॥ २६६ ॥

क्रोधचतुष्कं प्रथमं अनन्तानुबन्धिनामकं भणितं ।
सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं त्रीणि ॥

एएसिं सत्तण्हं उवसमकरणेण उवसमं भणियं ।
खयओ खइयं जायं अचलत्तं णिम्मलं सुद्धं ॥ २६७ ॥

एतेषां सप्तानामुपशमकरणेन उपशमं भणितं ।
क्षयतः क्षायिकं जातं अचलत्वं निर्मलं शुद्धं ॥

उदयाभाओ जत्थ य पयडीणं ताण सव्वघाईणं ।
ताणं उवसमो वि य उदओ सम्मत्तपयडीए ॥ २६८ ॥

उदयाभावो यत्र च प्रकृतीनां तासां सर्वघातिनां ।
तासां उपशमोऽपि च उदयः सम्यक्त्वप्रकृतेः ॥

खयउवसमं पउत्तं सम्मत्तं परमवीयरायेहिं ।
उवसमनियंकसरिसं णिच्चं कम्मक्खवणहेउं ॥ २६९ ॥

क्षायोपशमं प्रोक्तं सम्यक्त्वं परमवीतरागैः ।
उपशमनियतसदृशं नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥

१ [illegible]

जो ण हि मण्णइ एयं खयउवसमभावजो य सम्मत्तं ।
सो अण्णाणी मूढो तेण ण णायं समयसारं ॥ २७० ॥

यो न हि मन्यते एतत् क्षयोपशमभावजं च सम्यक्त्वं ।
स अज्ञानी मूढत्वेन न ज्ञातं समयसारं ॥

जम्हा पंचपयारा भावा अत्थित्ति सुत्तणिद्दिट्ठा ।
तम्हा खयउवसमिए भावे जायं तु तं जाणे ॥ २७१ ॥

यस्मात् पंचप्रकारा भावा सन्तीति सूत्रनिर्दिष्टाः ।
तस्मात् क्षयोपशमेन भावेन जातं तु तत् ज्ञातव्यं ॥

तं सम्मत्तं उत्तं जत्थ पयत्थाण होइ सद्दहणं ।
परमप्पहेकहियाणं परमप्पा दोसपरिचत्तो ॥ २७२ ॥

तत्सम्यक्त्वमुक्तं यत्र पदार्थानां भवति श्रद्धानं ।
परमात्मकथितानां परमात्मा दोषपरित्यक्तः ॥

दोसा छुहाइ भणिया अट्ठारस होंति तिविहलोयम्मि ।
सामण्णा सयलजणे तेसिमभावेण परमप्पा ॥ २७३॥

दोषा क्षुधादयो भणिता अष्टादश भवन्ति त्रिविधलोके ।
सामान्या सकलजने तेषामभावेन परमात्मा ॥

सो पुण दुविहो भणियो सयलो तह णिक्कलुत्ति णायव्वो ।
सयलो अरुहसरूवो सिद्धो पुण णिक्कलो भणिओ ॥२७४॥

स पुनः द्विविधो भणितः सकलस्तथा निष्कल इति ज्ञातव्यः ।
सकलोऽर्हद्रूपः सिद्धः पुन निष्कलो भणितः ॥

जस्स ण गोरी गंगा कावालं णेव विसहरो कंठे ।
ण य दप्पो कंदप्पो सो अरुहो भण्णए रुद्दो ॥ २७५ ॥

१ य स ।

[illegible] ।
[illegible] ॥

जस्स ण छुहा ण तण्हा णो रोगो णेव सोगसंतावो ।
णारेपण्ड दुक्खसाये सो अरुहो भण्णए णिच्चं ॥ २७६ ॥

जस्य न क्षुधा न तृष्णा न रोगो नैव [illegible] ।
[illegible] सोऽर्हन् भण्यते नित्यम् ॥

ण विलीनमाण छलिओ ण य रायड्डो ण मउमुक्को जादो ।
ण य णिद्दाए ग्गो सो अरुहो भण्णए देवो ॥ २७७ ॥

न [illegible] छलितो न च रागाढ्यो न [illegible] जातः ।
न च निद्रया [illegible] सोऽर्हन् भण्यते देवः ॥

तेणुत्तणवपयत्था अण्णे पंचत्थिकायछद्दव्वा ।
आणाए अविगमेण य सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥ २७८ ॥

तेनोक्तनवपदार्थान् अन्यानि पंचास्तिकायषड्द्रव्याणि ।
आज्ञयाधिगमेन च श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वं ॥

संकाइदोसरहियं णिस्संकाईगुणज्जुअं परमं ।
कम्मणिज्जरणहेउं तं सुद्धं होइ सम्मत्तं ॥ २७९ ॥

शंकादिदोषरहितं निःशंकादिगुणयुतं परमं ।
कर्मनिर्जराहेतु तच्छुद्धं भवति सम्यक्त्वं ॥

रायगिहे णिस्संको चोरो णामेण अंजणो भणिओ ।
चंपाए णिक्कंखा वणिधूया णंतमइ णामा ॥ २८० ॥

राजगृहे निःशंकश्चोरो नाम्ना अंजनो भणितः ।
चम्पायां निष्कांक्षा वणिक्सुतानन्तमती नाम ॥

---

१ हवइ. ख । २ बिन्दु ख । ३ ओ क. ।

णिच्छिदिगिंछो राया उद्दायणो णाम रउरवे णयरे ।
रेवइ महुराणयरे अमूढदिट्ठी मुणेयव्वा ॥ २८१ ॥

निर्विचिकित्सो राजा उद्दायनो नाम रौरवे नगरे ।
रेवती मथुरानगरे अमूढदृष्टिर्मन्तव्या ॥

ठिदियरणगुणपउत्तो मगहाणयरम्मि वारिसेणो दु ।
हत्थिणपुरम्मि णयरे वच्छल्लं विण्हुणा रइयं ॥ २८२ ॥

स्थितिकरणगुणप्रयुक्तो मगधानगरे वारिषेणो हि ।
हस्तिनापुरे नगरे वात्सल्यं विष्णुना रचितं ॥

उवगूहणगुणजुत्तो जिणदत्तो णाम तामलित्तिणयरीए ।
वज्जकुमारेण कया पहावणा चेय महुराए ॥ २८३ ॥

उपगूहनगुणयुक्तो जिनदत्तो नाम ताम्रलिप्तिनगर्यां ।
वज्रकुमारेण कृता प्रभावना चैव मथुरायां ॥

एरिसगुणअट्ठजुयं सम्मत्तं जो धरेइ दिढचित्तो ।
सो हवइ सम्मदिट्ठी सद्दहमाणो पयत्थाण ॥ २८४ ॥

एतादृशाष्टगुणयुक्तं सम्यक्त्वं यो धारयति दृढचित्तः ।
स भवति सम्यग्दृष्टिः श्रद्दधानः पदार्थानां ॥

ते पुणु जीवाजीवा पुण्णं पावो य आसवो य तहा ।
संवर णिज्जरणं पि य बंधो मोक्खो य णव होंति ॥ २८[illegible]

ते पुनः जीवाजीवौ पुण्यं पापश्च आस्रवश्च तथा ।
संवरो निर्जरापि च बन्धो मोक्षश्च नव भवन्ति ॥

---

१ वरवे. ख. । वसुनन्दिश्रावकाचारे तु हवरणयरे इति पाठः । हवरए[illegible]
३ अव क ते. ख. । ३ पुण्णा पावा य क. ।

जीवो अणाइ णिहणो उवओगमेजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता चेत्ता ण हु मुत्तो सहावउड्ढगई ॥ २८६ ॥

जीवोऽनादिनिधन उपयोगयुतो देहमात्रश्च।
कर्ता भोक्ता चेतयिता न हि मूर्तः स्वभावोर्ध्वगतिः ॥

पाणचउक्कपउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्वं।
जीवेइ वट्टमाणं जीवत्तगुणसमावण्णो ॥ २८७ ॥

प्राणचतुष्कप्रयुक्तः जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्।
जीवति वर्तमाने जीवत्वगुणसमापन्नः ॥

पज्जाएण वि तस्स हु दिट्ठा आरंभि देहगहणम्मि।
अधुवत्तं पुण दिट्ठं देहस्स विणासणे तस्स ॥ २८८ ॥

पर्यायेणापि तस्य हि दृष्टा आरम्भः देहग्रहणे।
अध्रुवत्वं पुन दृष्टं देहस्य विनाशने तस्य ॥

सायारो अणयारो उवओगो दुविहभेयसंजुत्तो।
सायारो अट्ठविहो चउप्पयारो अणायारो ॥ २८९ ॥

साकारोऽनाकार उपयोगो द्विविधभेदसंयुक्तः।
साकारोऽष्टविधः चतुष्प्रकारोऽनाकारः ॥

मइसुइओहिविहंगा अण्णाणजुयाणि तिण्णि णाणाणि।
सम्मण्णाणाणि पुणो केवलदिट्ठाणि पंचेव ॥ २९० ॥

मतिश्रुतावधिविभङ्गानि अज्ञानयुक्तानि त्रीणि ज्ञानानि।
सम्यग्ज्ञानानि पुनः केवलदृष्टानि पञ्चैव ॥

---

१ भुत्ता ख.। २ चेत्ता ख। ३ इ ख। ४ इय ख—पुस्तके २…
सागार. पर्व।

मइणाणं सुइणाणं उवही मणपज्जयं च केवलयं ।
तिण्णि मया छत्तीसा मई सुयं पुण बारसंगगयं ॥ २९१ ॥

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमवधिः मनःपर्ययः च केवलं ।
त्रीणि ज्ञानानि षट्त्रिंशत् मतिः, श्रुतं पुनः द्वादशाङ्गगतं ॥

देसावहि परमावहि सव्वावहि अवहि होइ तिब्भेया ।
भवगुणकारणभूया णायव्वा होइ णियमेणं ॥ २९२ ॥

१ सुयं च बा. क. । २ अस्माद्गाथासूत्रादग्रे ख-पुस्तके इदं पाठो वर्तते ।

अथ मन्यान्तराद्ज्ञानत्रयमाह—

अर्हं मन्यते देवमसतं मन्यते मतं ।
असत्यं तत्त्वविज्ञानं कुमतिर्मन्यते बुधैः ॥ १ ॥
सर्वज्ञशासने द्वेषः कुशास्त्रेषु सदा रतिः ।
मत्यमसि कुश्रुतेच्छा श्रुतो स मतोऽधमः ! ॥ २ ॥

अथ जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे अहिच्छत्रपुरे ब्राह्मणः शिवशर्मा नाम मतिनिवृत्तोऽपेतो विभङ्गावधिसंज्ञातः । एकदा पितुःपार्श्वे निजपुत्रस्तस्य सुत—समीपे स्वमोक्षमाश्रित्य कृष्णमृग एकस्तिष्ठति, मृगं व्यापादयित्वा शीघ्रमेवागच्छ हे पुत्र ! । वट्टकस्तत्रैव प्राप्तः, मृगसमूहं दृष्ट्वा विस्मये गतः, पुनर्दिशावलोकनं कृत्वा तस्मिन् स्थाने मुनिं दृष्ट्वा नमस्कारं कृत्वा पृच्छति स्म—भगवन् ! मृगनिवहो युष्मत्पार्श्वे स्थितो मदीया कथं ज्ञातं ! ज्ञानप्रभावान्मुनिरुक्तवान्—तव पितुर्विभङ्गावधिः संजातः, असंयमभावेन जानाति । मुनिवचनं श्रुत्वा स वेगतस्त्रैव गत्वा नमस्कृत्वा अनघमुपविष्टः । स पितरं पृच्छति—तस्मिन् स्थाने किं कोऽपि मानवकः अस्ति ! स कथयति न हि । पुत्रः कथयति—मृगसमूहस्तिष्ठति, कोऽपि मतिरहित किं वा नास्तीति ! तद्वचनं श्रुत्वा मुहुर्मुहुरवलोकय तेनोक्तं एकः स एव तिष्ठति नान्यः कश्चित् । गुरुवचनं श्रुत्वा शीघ्रेण मुनिसमीपे गतः । मुनिपार्श्वे मुनिर्भूतः । स्वर्गं गतः । स विप्रो रौद्रेण मृत्वा नरकं गतवेति, विभङ्गावधिरिति ।

२९१ गाथासूत्रस्यापि ख-पुस्तके व्याख्या वर्तते । सा चात्र नोद्धृता । तत्त्वार्थराजवार्तिकादौ यः पाठः ज्ञानानां विषये स एवात्रोल्लिखितः वर्तते, अतः तत्रैवावलोकनीय इति ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिः अवधिः भवति त्रिभेदः ।
भवगुणकारणभूतं ज्ञानतो भवति नियमेन ॥

मणपज्जवं च दुविहं रिउविउलमईं हवेइ णायव्वं ।
केवलणाणं एक्कं णणन्थ पयासयं णिच्चं ॥ २९३ ॥

मनःपर्ययं द्विविधं ऋजुविपुलमती भवेत् ज्ञातव्यः ।
केवलज्ञानं एकं अनन्त प्रकाशकं नित्यं ॥

एसो अट्ठपयारो णाणुवओगो हु होइ सायारो ।
चक्खु अचक्खू ओही केवलमदिओ अणायारो ॥ २९४ ॥

एषोऽष्टप्रकारो ज्ञानोपयोगो हि भवति साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधि केवलमदितोऽनाकारः ॥

जम्मि भवे जं देहं तम्मि भवे तप्पमाणओ अप्पा ।
संहारवित्थरगुणो केवलणाणीहि उद्दिट्ठो ॥ २९५ ॥

यस्मिन् भवे यो देह तस्मिन् भवे तत्प्रमाण आत्मा ।
संहारविस्तारगुण केवलज्ञानिभिः उद्दिष्टः ॥

जो कत्ता सो भुत्ता ववहारगुणेण होइ कम्मस्स ।
ण हु णिच्छयेण भणिओ कत्ता भोत्ता य कम्माणं ॥२९६॥

यः कर्ता स भोक्ता व्यवहारगुणेन भवति कर्मणः ।
न तु निश्चयेन भणित· कर्ता भोक्ता च कर्मणां ॥

कम्ममलच्छाइओ वि य ण मुणेइ सो चेयणगुणं किं पि ।
जोणीलक्खगओ वि य जह कणयं कद्दमे खित्तं ॥ २९७॥

कर्ममलच्छादितोऽपि च न जानाति चेतनगुणं किमपि ।
योनिलक्षगतोऽपि च यथा कनक कर्दमे क्षिप्तं ॥

१ ण. ख. ।

सुहमो अमुत्तिवंतो वण्णंगंधाइफासपरिहीणो ।
पुग्गलमज्झिगओ वि य ण य मिल्लइ णिययसब्भावं ॥२९८॥

सूक्ष्मोऽमूर्तिमान् वर्णगन्धादिस्पर्शपरिहीनः ।
पुद्गलमध्यगतोऽपि च न च मुञ्चति निजकस्वभावं ॥

सब्भावेणुड्ढगई विदिसं परिहरिय गइचउक्केण ।
गच्छेइ कम्मजुत्तो सुद्धो पुण रिजुगई जाई ॥ २९९ ॥

स्वभावेनोर्ध्वगतिः विदिशां परिहृत्य गतिचतुष्केन ।
गच्छति कर्मयुक्तः शुद्धः पुनः ऋजुगतिं याति ॥

पाणिविमुत्ता लंगलि वंकगई होइ तह य पुण तइया ।
कम्मइयकायजुत्तो दो तिण्णि य कुणइ वंकाइं ॥ ३०० ॥

पाणिविमुक्ता लाङ्गलिका वक्रगतिः भवति तथा च पुनः तृतीया ।
कार्मणकाययुक्तः द्वित्रीणि करोति वक्राणि ॥

तइए समए गिण्हइ चिरकयकम्मोदएण सो देहं ।
सुरणरणारइयाणं तिरियाणं चेव लेसवसो ॥ ३०१ ॥

तृतीये समये गृह्णाति चिरकृतकर्मोदयेन स देहं ।
सुरनरनारकाणां तिरश्चां चैव लेश्यावशः ॥

सुहदुक्खं भुंजंतो हिंडइ जोणीसु सयसहस्सेसु ।
एइंदियवियलिंदियसयलिंदियपज्जपज्जत्तो ॥ ३०२ ॥

---

१ वण्णविरुण्णाइं ख. । २ ये. ग. । ३ ससहावेणुड्ढगई ग. । स्वस्वभावेनोर्ध्वगतिः । ४ सिद्धो ख. ।

सुखदुःखं भुञ्जानः हिण्डते योनिषु शतसहस्रेषु ।
एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसकलेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तः ।
जीवः ।

होंति अजीवा दुविहा रूवारूवा य रूवि चउभेया ।
खंधं च तहा देसो खंधपदेसो य परमाणू ॥ ३०३ ॥

भवन्ति अजीवा द्विविधा रूप्यरूपाश्च रूपिणश्चतुर्भेदाः ।
स्कन्धश्च तथा देशः स्कन्धप्रदेशश्च परमाणुः ॥

णिहिलावयवं च खंधा तस्स य अद्धं च वुच्चदे देसो ।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी होइ परमाणू ॥ ३०४ ॥

निखिलावयवश्च स्कन्धः तस्य चार्धं च उच्यते देशः ।
अर्धार्धं च प्रदेशोऽविभागी भवति परमाणुः ॥

धम्माधम्मागासा अरूविणो होंति तह य पुण कालो ।
गइठाणकारणात्ति य उग्गाहण वत्तणा कमसो ॥ ३०५ ॥

धर्माधर्माकाशाः अरूपा भवन्ति तथा च पुन कालः ।
गतिस्थानकारणमपि चावगाहनस्य वर्तनायाः क्रमशः ॥

जीवाण पुग्गलाणं गइप्पवत्ताण कारणं धम्मो ।
जह मच्छाणं तोयं थिरभूया णेव सो णेई ॥ ३०६ ॥

जीवानां पुद्गलानां गतिप्रवृत्ताना कारणं धर्म ।
यथा मत्स्यानां तोयं स्थिरीभूतान् नैव स नयति ॥

ठिदिकारणं अधम्मो विसामठाणं च होइ जह छाया ।
पहियाणं रुक्खस्स य गंच्छंतं णेव सो धरई ॥ ३०७ ॥

---

१ मच्छयाण स । २ गच्छमाणा ण सो स. ।

स्थितिकारणं अधर्मः विश्रामस्थानं च भवति यथा छाया।
पथिकानां वृक्षस्य च गच्छतः नैव स धरति ॥

सव्वेसिं दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं।
तं पुणु दुविहं भणियं लोयालोयं च जिणसमए ॥ ३०८ ॥

सर्वेषां द्रव्याणामवकाशं ददाति तत्त्वाकाशं।
तत्पुनः द्विविधं भणितं लोकालोकं च जिनसमये ॥

वत्तणगुणजुत्ताणं दव्वाणं होइ कारणं कालो।
सो दुविहभेयभिण्णो परमट्ठो होइ ववहारो ॥ ३०९ ॥

वर्तनागुणयुक्तानां द्रव्याणां भवति कारणं कालः।
स द्विविधभेदभिन्नः परमार्थो भवति व्यवहारः ॥

परमट्ठो कालाणू लोयपदेसे हि संठिया णिच्चं।
एक्केक्के एक्केक्का अपएसा रयणरासिव्व ॥ ३१० ॥

परमार्थः कालाणवः लोकप्रदेशे हि संस्थिता नित्यं।
एकैकस्मिन् एकैका अप्रदेशा रत्नानां राशिरिव ॥

वट्टणकालो समओ पुग्गलपरमाणुवाण संजाओ।
ववहारस्स य मुक्खो उप्पण्णो तीद भावी स ॥ ३११ ॥

वर्तनाकालः समयः पुद्गलपरमाणूना संजातः।
व्यवहारस्य च मुख्यः उत्पद्यमानोऽतीतो भावी सः ॥

तेसिं पि य समयाणं संखारहियाण आवली होई।
संखेज्जावलिगुणिओ उस्सासो होई जिणदिट्ठो ॥ ३१२ ॥

तेषामपि च समयानां संख्यारहितानां आवली भवति।
संख्यातावलीगुणित उच्छ्वासो भवति जिनदृष्टः ॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहिं होइ लओ इक्को ।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली बेणालिया मुहुत्तं तु ॥ ३१३ ॥

सप्तोच्छ्वासेन स्तोकः सप्तस्तोकैः भवति लव एकः ।
अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिका मुहूर्तस्तु ॥

तीसमुहुत्तो दिवसो पणदहदिवसेहि होइ पक्खं तु ।
विहि पक्खेहि य मासो रिउ एक्का वेहिं मासेहिं ॥३१४॥

त्रिंशन्मुहूर्तं दिवसं पंचदशदिवसैः भवति पक्षस्तु ।
द्वाभ्यां पक्षाभ्यां च मासः ऋतुरेको द्वाभ्यां मासाभ्या ॥

रिउतियभूयं अयणं अयणजुयलेण होइ वरिसेक्को ।
इय ववहारो उत्तो कमेण विड्ढिगओ विविहो ॥ ३१५ ॥

ऋतुत्रिभूतमयनं अयनयुगलेन भवति वर्ष एकः ।
एप व्यवहार उक्तः क्रमेण वृद्धिगतो विविधः ॥

एयं तु दव्वछक्कं जिणेहि पंचत्थिकाइयं भणियं ।
वज्जिय कार्यं कालो कालस्स पएसयं णत्थि ॥ ३१६ ॥

एतत्तु द्रव्यषट्कं जिनैः पंचास्तिकायिकं भणितं ।
वर्जयित्वा कार्यं कालं कालस्य प्रदेशो नास्ति ॥

जं पुण रूवी दव्वं गंधरसफासवण्णसंजुत्तं ।
लहिऊण जीवचिट्ठा कारणयं कम्मबंधस्स ॥ ३१७ ॥

यत्पुना रूपि द्रव्यं गन्धरसस्पर्शवर्णसंयुक्तं ।
लब्ध्वा जीवस्थितं कारणं कर्मबन्धस्य ॥

अजीवः ।

सम्मत्तसुदवएहिं य कसायउवसमणगुणसमाउत्तो ।
जो जीवो सो पुण्णं पावं वीवरीयदोसाओ ॥ ३१८ ॥

सम्यक्त्वश्रुतव्रतैः च कषायोपशमनगुणसमायुक्तः ।
यो जीवः स पुण्यं पापः विपरीतदोषतः ॥

पुण्यपापौ ।

गिरिणिग्गउणइवाहो पविसइ सरम्मि जहाणवरयं ।
लहिऊण जीवचिहा तह कम्मं भावि आसवई ॥ ३१९ ॥

गिरिनिर्गतनदीप्रवाह. प्रविशति सरसि यथानवरतं ।
लब्ध्वा जीवस्थितं तथा कर्म भावि आस्रवति ॥

आसवइ सुहेण सुहं असुहं आसवइ असुहजोएण ।
जह णइजलं तलाए समलं वा णिम्मलं विसेई ॥ ३२० ॥

आस्रवति शुभेन शुभं अशुभमास्रवति अशुभयोगेन ।
यथा नदीजलं तडागे समलं वा निर्मलं विशति ॥

आसवइ जं तु कम्मं मणवयकाएहिं रायदोसेहिं ।
तं संवरइ णिरुत्तं तिगुत्तिगुत्तो णिरालंबो ॥ ३२१ ॥

आस्रवति यत्तु कर्म मनवचनकायैः रागद्वेषैः ।
तत्संवृणोति निरुक्तं त्रिगुप्तिगुप्तो निरालम्बः ॥

---

१ अस्मादग्रे 'आस्रवतत्त्वं' इति पाठः ख-पुस्तके ।

जा संकप्पवियप्पो ता कम्मं असुहसुहयदायारं ।
लद्धे सुद्धसहावे सुसंवरो उहयकम्मम्मं ॥ ३२२ ॥

यावत् संकल्पविकल्पः तावत् कर्म अशुभशुभदातृ ।
लब्धे शुद्धस्वभावे सुसंवर उभयकर्मणः ॥

णट्ठे मणसंकप्पे इंदियवावारवज्जिए जीवे ।
लद्धे सुद्धसहावे उभयस्स य संवरो होई ॥ ३२३ ॥

नष्टे मनःसंकल्पे इन्द्रियव्यापारवर्जिते जीवे ।
लब्धे शुद्धस्वभावे उभयस्य संवरो भवति ॥

आस्रव-संवरौ ।

जीवकम्माण उहयं अण्णोण्णं जो पएसपवेसो हु ।
सो जिणवरेहिं बंधो भणिओ इय विगयमोहेहिं ॥ ३२४ ॥

जीवकर्मणोरुभयोरन्योन्यः यः प्रदेशप्रवेशस्तु ।
स जिनवरैः बन्धो भणित इति विगतमोहैः ॥

जीवपएसेक्केक्के कम्मपएसा हु अंतपरिहीणा ।
होंति घणा णिविडभूया सो बंधो होइ णायव्वो ॥ ३२५ ॥

---

१ अस्य व्याख्या ख–पुस्तके । यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेति रूपं संकल्पं करोति अभ्यन्तरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनन्तज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूतं आत्म हृदये न स्फुरति तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोति ।

जीवप्रदेशे एकैकस्मिन् कर्मप्रदेशा हि अन्तपरिहीनाः ।
भवन्ति घना निबिडभूताः स बंधो भवति ज्ञातव्यः ॥

अत्थि हु अणाइभूओ बंधो जीवस्स विविहकम्मेण ।
तस्सोदएण जायइ भावो पुण रायदोसमओ ॥ ३२६ ॥

अस्त्यनादिभूतो बन्धो जीवस्य विविधकर्मणा ।
तस्योदयेन जायते भावः पुना रागद्वेषमयः ॥

भावेण तेण पुणरवि अण्णे बहु पुग्गला हु लग्गंति ।
जह तुप्पियग(प)त्तस्स य णिविडा रेणुव्व लग्गंति ॥३२७॥

भावेन तेन पुनरपि अन्ये बहवः पुद्गला हि लगन्ति ।
यथा घृतपात्रस्य च निबिडा रेणवो लगन्ति ॥

एक्कसमएण बद्धं कम्मं जीवेण सत्तभेएहिं ।
परिणवइ आउकम्मं बद्धं भूयाउसेसेण ॥ ३२८ ॥

एकसमयेन बद्धं कर्म जीवेन सप्तभेदैः ।
परिणमति आयु कर्म बद्धं भूतायुःशेषेण ॥

सो बंधो चउभेओ णायव्वो होइ सुत्तणिद्दिट्ठो ।
पयडिट्ठिदिअणुभागो पएसबंधो पुरा कहिओ ॥ ३२९ ॥

स बन्धश्चतुर्भेदो ज्ञातव्यो भवति सूत्रनिर्दिष्टः ।
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धः पुरा कथितः ॥

णाणाण दंसणाण आवरणं वेयणीय मोहणियं ।
आउस्स णाम गोदं अंतरायाणि पयडीओ ॥ ३३० ॥

ज्ञानानां दर्शनानां आवरणं वेदनीयं मोहनीयं ।
आयुष्कं नाम गोत्रं अन्तरायः प्रकृतयः ॥

णाणावरणं कम्मं पंचविहं होइ सुत्तणिद्दिट्ठं।
जह पडिमोवरि खित्तं छायणयं होइ कप्पडयं[1] ॥ ३३१ ॥

ज्ञानावरणं कर्म पंचविधं भवति सूत्रनिर्दिष्टं।
यथा प्रतिमोपरि क्षिप्तं छादनकं भवति कर्पटकम् ॥

दंसणआवरणं पुण जह पडिहारो विणिवइ वारम्मि।
तं णवविहं पउत्तं फुडत्थवाईहिं सुत्तम्मि ॥ ३३२ ॥

दर्शनावरणं पुनः यथा प्रतिहारो वारयति द्वारे।
तन्नवविधं प्रोक्तं स्फुटवादिभिः सूत्रे ॥

मोहेइ मोहणीयं जह मइरा अहव कोद्दवा पुरिसं।
तह अडवीसविभिण्णं णायव्वं जिणुवएसेण ॥ ३३३ ॥

मोहयति मोहनीयं यथा मदिरा अथवा कोद्रवं पुरुषं।
तथा अष्टाविंशतिविभिन्नं ज्ञातव्यं जिनोपदेशेन ॥

महुलित्तखग्गसरिसं दुविहं पुण होइ वेयणीयं तु।
सायामायविभिण्णं सुहदुक्खं देइ जीवस्स ॥ ३३४ ॥

मधुलिप्तखड्गसदृशं द्विविधं पुनः भवति वेदनीयं तु।
सातासातविभिन्नं सुखदुःखं ददाति जीवाय ॥

आऊ चउप्पयारं सुरणारयमणुयतिरियगईबद्धं।
हडिखित्तपुरिसतुल्लं जीवे भवधारणसमत्थं ॥ ३३५ ॥

आयुः चतुष्प्रकारं सुरनारकमनुष्यतिर्यग्गतिबद्धं।
हडिक्षिप्तपुरुषतुल्यं जीवे भवधारणसमर्थं ॥

---

[1] कूरवा ख.।

चित्तपडं व विचित्तं णाणाणामेहिं[1] वत्तणं णामं ।
णेणवइ संपगुणियं गइजाइसरीरआईहिं ॥ ३३६ ॥

चित्रपटवत् विचित्रं नानानामभिः वर्तनं नाम ।
निर्वर्तति संपगुणितं गतिजातिशरीरादिभिः ॥

गोदं कुलालसरिसं णिच्चुच्चकुलेसु पायणे दच्छं ।
घडरंजणाइकरणे कुंभयकारो जहा णिउणो ॥ ३३७ ॥

गोत्रं कुलालसदृशं नीचोच्चकुलेषु प्रापणे दक्षं ।
घटरञ्जनादिकरणे कुंभकारो यथा निपुणः ॥

जह भंडयारिपुरिसो धणं णिवारेइ राइणा दिण्णं ।
तह अंतरायकम्मं णिवारणं कुणइ लद्धीणं ॥ ३३८ ॥

यथा भाण्डागारिपुरुषः धनं निवारयति राज्ञा दत्तं ।
तथान्तरायकर्म निवारणं करोति लब्धीनां ॥

तं पंचभेयउत्तं दाणे लाहे य भोइ उवभोए ।
तह वीरिएण भणियं अंतरायं जिणिंदेहिं ॥ ३३९ ॥

तत्पञ्चभेदयुक्तं दाने लाभे च भोगे उपभोगे ।
तथा वीर्येण भणितं अन्तरायं जिनेन्द्रैः ॥

एसो पयडीबंधो अणुभागो होइ तस्स सत्तीए ।
अणुभवणं जं तीवे[3] तिव्वं मंदे[4] मंदाणुरूवेण ॥ ३४० ॥

---

१ ण ख. । २ कुंभयारो ख । ३ जीवे ख। ४ मंदे इति पाठः उभयपुस्तके नास्ति ।

एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शक्त्याः ।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्रं मन्दे मन्दानुरूपेण ॥

प्रकृत्यनुभागबन्धौ[1] ।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतराइयस्सेव ।
तीसं कोडाकोडीसायारणामाणमेव ठिदी ॥ ३४१ ॥

तिसृणां खलु प्रथमानामुत्कृष्टमन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटिसागरनाम्नामेव स्थितिः ॥

मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णामगोत्तस्स ।
तेत्तीससागराणं उवमाओ आउसस्सेय ॥ ३४२ ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुनर्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥

उत्कृष्टम् ।

वारसय वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदि सेसाणं सा वि पंचण्हं ॥ ३४३ ॥

द्वादश वेदनीये नामगोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः शेषाणां सापि पंचानां ॥

जघन्या, इति स्थितिबन्धः ।

---

१ प्रकृतिबन्ध इत्येव पाठ पुस्तके ।

पुव्वकयकम्मसडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवायजाया विदिया अविवायजाया य ॥ २४४ ॥

पूर्वकृतकर्मशटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाकजाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥

कालेण उवाएण य पच्चंति जहा वणप्फइफलाइं।
तह कालेण तवेण य पच्चंति कयाइं कम्माइं ॥ २४५ ॥

कालेनोपायेन च पच्यन्ते यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पच्यन्ते कृतानि कर्माणि ॥

निर्जरा।

णिस्सेसकम्ममुक्खो सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो।
रायद्दोसाभावे सहावथक्कस्स जीवस्स ॥ २४६ ॥

निःशेषकर्ममोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः।
रागद्वेषाभावे स्वभावस्थितस्य जीवस्य ॥

सो पुण दुविहो भणिओ एक्कदेसो य सव्वमोक्खो य।
देसो चउघाइखए सव्वो णिस्सेसणासम्मि ॥ २४७ ॥

स पुनः द्विविधो भणित एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशेषनाशे ॥

मोक्षः।

एए सत्तपयत्था जिणदिट्ठा भासिया मए तच्चा।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्माइट्ठी हवे सो हु ॥ २४८ ॥

एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शक्त्याः ।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्रं मन्दे मन्दानुरूपेण ॥

प्रकृत्यनुभागबन्धौ ।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतराइयस्सेव ।
तीसं कोडाकोडीसायारणामाणमेव ठिदी ॥ ३४१ ॥

तिसृणां खलु प्रथमानामुत्कृष्टमन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटिसागरनाम्नामेव स्थितिः ॥

मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णामगोत्तस्स ।
तेत्तीससागराणं उवमाओ आउसस्सेय ॥ ३४२ ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुनर्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥

उत्कृष्टम् ।

वारसय वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदि सेसाणं सा वि पंचण्हं ॥ ३४३ ॥

द्वादश वेदनीये नामगोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः शेषाणां सापि पंचानां ॥

जघन्या, इति स्थितिबन्ध. ।

---

१ प्रकृतिबन्ध इत्येव पाठः पुस्तके ।

पुव्वकयकम्मसडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विवायजाया विदिया अविवायजाया य ॥ ३४४ ॥

पूर्वकृतकर्मशटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाकजाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥

कालेण उवाएण य पचंति जहा वणप्फइफलाइं।
तह कालेण तवेण य पचंति कयाइं कम्माइं ॥ ३४५ ॥

कालेनोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि ॥

निर्जरा।

णिस्सेस कम्ममुक्खो सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो।
रायद्दोसाभावे सहावथक्कस्स जीवस्स ॥ ३४६ ॥

निःशेषकर्ममोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः।
रागद्वेषाभावे स्वभावस्थितस्य जीवस्य ॥

सो पुण दुविहो भणिओ एक्कदेसो य सव्वमोक्खो य।
देसो घउघाइखए सव्वो णिस्सेसणासम्मि ॥ ३४७ ॥

स पुनः द्विविधो भणित एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशेषनाशे ॥

मोक्षः।

एए सत्तपयारा जिणदिट्ठा भासिया मए तच्चा।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्मादिट्ठी हवे सो हु ॥ ३४८ ॥

एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य शक्त्याः ।
अनुभवनं यत्तीव्रे तीव्रं मन्दे मन्दानुरूपेण ॥

प्रकृत्यनुभागबन्धौ[1] ।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतराइयस्सेव ।
तीसं कोडाकोडीसायारणामाणमेव ठिदी ॥ ३४१ ॥

तिसृणां खलु प्रथमानामुत्कृष्टमन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटिसागरनाम्नामेव स्थितिः ॥

मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णामगोत्तस्स ।
तेत्तीससागराणं उवमाओ आउसस्सेय ॥ ३४२ ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुनर्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥

उत्कृष्टम् ।

वारसय वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदि सेसाणं सा वि पंचण्हं ॥ ३४३ ॥

द्वादश वेदनीये नामगोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः शेषाणां सापि पंचानां ॥

जघन्या, इति स्थितिबन्धः ।

---

१ प्रकृतिबन्ध इत्येव पाठ. पुस्तके ।

पुव्वकयकम्मसडणं णिज्जरा सा पुणो हवे दुविहा।
पढमा विपाकजाया विदिया अविवायजाया य ॥ ३४४ ॥

पूर्वकृतकर्मसटनं निर्जरा सा पुनः भवति द्विविधा।
प्रथमा विपाकजाता द्वितीया अविपाकजाता च ॥

कालेण उवाएण य पचंति जहा वणप्फइफलाइं।
तह कालेण तवेण य पचंति कयाइं कम्माइं ॥ ३४५ ॥

कालेनोपायेन च पचन्ति यथा वनस्पतिफलानि।
तथा कालेन तपसा च पचन्ति कृतानि कर्माणि ॥

निर्जरा।

णिस्सेस कम्ममुक्खो सो मुक्खो जिणवरेहिं पण्णत्तो।
रायद्दोसाभावे सहावथक्कस्स जीवस्स ॥ ३४६ ॥

निःशेषकर्ममोक्षः स मोक्षः जिनवरैः प्रज्ञप्तः।
रागद्वेषाभावे स्वभावस्थितस्य जीवस्य ॥

सो पुण दुविहो भणिओ एक्कदेसो य सव्वमोक्खो य।
देसो घउघाइखए सव्वो णिस्सेसणासम्मि ॥ ३४७ ॥

स पुनः द्विविधो भणित एकदेशश्च सर्वमोक्षश्च।
देशः चतुर्घातिक्षये सर्वः निःशेषनाशे ॥

मोक्षः।

एए सत्तपयारा जिणदिट्ठा भासिया मए तच्चा।
सद्दहइ जो हु जीवो सम्मादिट्ठी हवे सो हु ॥ ३४८ ॥

एषः प्रकृतिबन्धोऽनुभागो भवति तस्य ज्ञातव्यः ।
अनुभवनं वर्तते तीव्रे मन्दे मन्दानुरूपेण ॥

प्रकृत्यनुभागबन्धौ[1] ।

तिण्हं खलु पढमाणं उक्कस्सं अंतरायस्सेव ।
तीसं कोडाकोडीसायरणामाणमेव ठिदी ॥ ३४१ ॥

तिसृणां खलु प्रथमानामुत्कृष्टमन्तरायस्य च ।
त्रिंशत्कोटाकोटिसागरनाम्नामेव स्थितिः ॥

मोहस्स सत्तरी खलु वीसं पुण होइ णामगोत्तस्स ।
तेत्तीससागराणं उवमाओ आउसस्सेव ॥ ३४२ ॥

मोहस्य सप्ततिः खलु विंशतिः पुनर्भवति नामगोत्रयोः ।
त्रयस्त्रिंशत्सागराणां उपमा आयुष एव ॥

उत्कृष्टम् ।

बारसय वेयणीए णामागोदे य अट्ठ य मुहुत्ता ।
भिण्णमुहुत्तं तु ठिदि सेसाणं सा वि पंचण्हं ॥ ३४३ ॥

द्वादश वेदनीये नामगोत्रयोश्च अष्टौ मुहूर्ताः ।
भिन्नमुहूर्तस्तु स्थितिः शेषाणां सापि पंचानां ॥

जघन्या, इति स्थितिबन्धः ।

---

१ प्रकृतिबन्ध इत्येव पाठः पुस्तके ।

हिंसाविरतिः सत्यं अदत्तपरिवर्जनं च स्थूलव्रतं ।
परमहिलापरिहारः परिमाणं परिग्रहस्यैव ॥

दिसिविदिसिपच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो ।
भोओपभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि ॥ ३५४ ॥

दिग्विदिक्प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः ।
भोगोपभोगसंख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि ॥

देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं ।
अतिहीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥ ३५५ ॥

देवान् स्तौति त्रिकाले, पर्वणि पर्वणि सुप्रोषधोपवास ।
अतिथीनां संविभागः, मरणान्ते करोति सल्लेखनां ॥

महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि ॥ ३५६ ॥

मधुमद्यमांसविरतिः त्यागः पुनः उदुम्बराणां पंचानां ।
अष्टावेते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते ॥

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे ।
बहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥ ३५७ ॥

आर्तरौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने ।
बह्वारम्भपरिग्रहयुक्तस्य च नास्ति तद्धर्म्यम् ॥

धम्मोदएण जीवो असुहं परिचयइ सुहगई लेई ।
कालेण सुक्खं भिउइ इंदियबलकारणं जाणि ॥ ३५८ ॥

---

१ अरदाये ४क च श्लोक ख-पुस्तके ।
सिरे कस्मै किमवे तस्रूवे सोमवे पूदे यम विहाय सोई ।
स्मर्यते पंचयदं सर्वचिते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥ १ ॥

एतानि सप्तप्रकाराणि जिनदृष्टानि भाषितानि मया तत्त्वानि ।
श्रद्धाति यस्तु जीवः सम्यग्दृष्टिः भवेत् स तु ॥

अविरियसम्मादिट्ठी एसो उत्तो मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं समासदो देसविरदो य ॥ ३४९ ॥

अविरतसम्यग्दृष्टिः एष उक्तः मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये समासतो देशविरतं च ॥

इत्यविरतगुणस्थानं चतुर्थं ।

पंचमयं गुणठाणं विरयाविरउत्ति णामयं भणियं ।
तत्थ वि खयउवसमिओ खाइओ उवसमो चेव ॥ ३५० ॥

पंचमकं गुणस्थानं विरताविरत इति नामकं भणितं ।
तत्रापि क्षायोपशमिकः क्षायिकः औपशमिकश्च ॥

जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥ ३५१ ॥

यस्त्रसवधाद्विरतो नो विरतस्तथा च स्थावरवधात् ।
एकसमये जीवो विरताविरत इति जिनः कथयति ॥

इलयाइथावराणं अत्थि पवित्तित्ति विरइ इयराणं ।
मूलगुणट्ठपउत्तो बारहवयभूसिओ हु देसजई ॥ ३५२ ॥

इलादिस्थावराणामस्ति प्रवृत्तिरिति विरतिरितरेषां ।
मूलगुणाष्टप्रयुक्तो द्वादशव्रतभूषितो हि देशयतिः ॥

हिंसाविरई सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च थूलवयं ।
परमहिलापरिहारो परिमाणं परिग्गहस्सेव ॥ ३५३ ॥

दिग्विरति, सर्वं अनर्थपरिवर्जनं च स्थूलव्रतं ।
धनधान्यपरिहार परिमाण परिहारश्चैव ॥

दिसिविदिसिपच्चखाणं अणत्थदंडाण होइ परिहारो ।
भोओपभोयसंखा एए हु गुणव्वया तिण्णि ॥ ३५४ ॥

दिग्विदिक्प्रत्याख्यानं अनर्थदण्डानां भवति परिहारः ।
भोगोपभोगसंख्या एतानि हि गुणव्रतानि त्रीणि ॥

देवे थुवइ तियाले पव्वे पव्वे सुपोसहोवासं ।
अतिहीण संविभागो मरणंते कुणइ सल्लिहणं ॥ ३५५ ॥

देवान् स्तौति त्रिकाले, पर्वणि पर्वणि सुप्रोषधोपवासः ।
अतिथीनां संविभाग , मरणान्ते करोति सल्लेखनां ॥

महुमज्जमंसविरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुडु देसविरयम्मि ॥ ३५६ ॥

मधुमद्यमांसविरतिः त्यागः पुनः उदम्बराणां पंचानां ।
अष्टावेते मूलगुणा भवन्ति स्फुटं देशविरते ॥

अट्टरउद्दं झाणं भद्दं अत्थित्ति तम्हि गुणठाणे ।
बहुआरंभपरिग्गहजुत्तस्स य णत्थि तं धम्मं ॥ ३५७ ॥

आर्त्तरौद्रं ध्यानं भद्रं अस्तीति तस्मिन् गुणस्थाने ।
बह्वारम्भपरिग्रहयुक्तस्य च नास्ति तद्धर्म्यम् ॥

धम्मोदएण जीवो असुहं परिचयइ सुहगई लेई ।
कालेण सुक्ख मिलइ इंदियबलकारणं जाणि ॥ ३५८ ॥

---

१ अस्याग्रे अयं च श्लोकः ख-पुस्तके ।
मित्रे कलत्रे विभवे तनूजे सौख्ये गृहे यत्र विहाय मोहं ।
स्मर्यते पंचपदं स्वचित्ते सल्लेखना सा विहिता मुनीन्द्रैः ॥ १ ॥

धर्मोदयेन जीवोऽशुभं परित्यजति शुभगतिं प्राप्नोति ।
कालेन सुखं मिलति इन्द्रियबलकारणं जानीहि ॥

इट्ठविओए अट्टं उप्पज्जइ तह अणिट्ठसंजोए ।
रोयपकोवे तइयं णियाणकरणे चउत्थं तु ॥ ३५९ ॥

इष्टवियोगे आर्तं उत्पद्यते तथा अनिष्टसंयोगे ।
रोगप्रकोपे तृतीयं निदानकरणे चतुर्थं तु ॥

अट्टज्झाणपउत्तो बंधइ पावं णिरंतरं जीवो ।
मरिऊण य तिरियगई को वि णरो जाइ तज्झाणे ॥

आर्तध्यानयुक्तो बध्नाति पापं निरन्तरं जीवः ।
मृत्वा च तिर्यग्गतिं कोऽपि नरो याति तद्ध्याने ॥

रुद्दं कसायसहियं जीवो संभवइ हिंसयाणंदं ।
मोसाणंदं विदियं तेयाणंदं पुणो तइयं ॥ ३६१ ॥

रुद्रं कषायसहितं जीवः संभवति हिंसानन्दं ।
मृषानन्दं द्वितीयं स्तेयानन्दं पुनस्तृतीयं ॥

हवइ चउत्थं झाणं रुद्दं णामेण रक्खणाणंदं ।
जस्स य माहप्पेण य णरयगईभायणो जीवो ॥ ३६२

भवति चतुर्थं ध्यानं रौद्रं नाम्ना रक्षणानन्दं ।
यस्य च माहात्म्येन नरकगतिभाजनो जीवः ॥

गिहवावाररयाणं गेहीणं इंदियत्थपरिकलियं ।
अट्टज्झाणं जायइ रुद्दं वा मोहछण्णाणं ॥ ३६३ ॥

गृहव्यापाररतानां गेहिनामिन्द्रियार्थपरिकलितं ।
आर्तध्यानं जायते रौद्रं वा मोहच्छन्नानां ॥

झाणेहिं तेहिं पावं उप्पण्णं तं णासइ भद्दझाणेण ।

ध्यानेनैव पापं हन्ति तस्माद्वदति भद्रध्यानेन ।
जीव उपशमयुक्तो देशयति ज्ञानगम्यम् ॥

भद्दस्स लक्खणं पुण धम्मं चिंतेइ भोयपरिमुक्को ।
चिंतिय धम्मं सेवइ पुणरवि भोए जहिच्छाए ॥ ३६५ ॥

भद्रस्य लक्षणं पुन धर्मं चिन्तयति भोगविमुक्तः ।
चिन्तयित्वा धर्मं सेवते पुनरपि भोगान् यथेच्छया ॥

धम्मज्झाणं भणियं आणापायाविवायविचयं च ।
संठाणं विचयं तह कहियं झाणं समासेण ॥ ३६६ ॥

धर्म्यध्यानं भणितं आज्ञापायविपाकविचयं च ।
संस्थानविचयं तथा कथितं ध्यानं समासेन ॥

छद्दव्वणवपयत्था सत्त वि तच्चाइं जिणवराणाए ।
चिंतइ विसयविरत्तो आणाविचयं तु तं भणियं ॥ ३६७ ॥

षड्द्रव्यनवपदार्थान् सप्तापि तत्त्वानि जिनवराज्ञया ।
चिन्तयति विषयविरक्त आज्ञाविचयं तु तद्भणितं ॥

असुहकम्मस्स णासो सुहस्स वा हवेइ केणुवाएण ।
इय चिंतंतस्स हवे अपायविचयं परं झाणं ॥ ३६८ ॥

अशुभकर्मणः नाशः शुभस्य वा भवति केनोपायेन ।
एतच्चिन्तयतः भवेदपायविचयं परं ध्यानं ॥

असुहसुहस्स विवाओ चिंतइ जीवाण चउगइगयाण ।
विवायविचयं झाणं भणियं तं जिणवरिंदेहिं ॥ ३६९ ॥

अशुभशुभस्य विपाकः चिन्तयति जीवानामशुभगतिगतानां ॥
विपाकविचयं ध्यानं भणितं तज्जिनवरेन्द्रैः ॥

अहउड्ढतिरियलोए चिंतेइ सपज्जयं ससंठाणं।
विचयं संठाणस्स य भणियं झाणं समासेण ॥ ३७० ॥

अधऊर्ध्वतिर्यग्लोकं चिन्तयति सपर्ययं ससंस्थानं।
विचयं संस्थानस्य च भणितं ध्यानं समासेन ॥

मुक्खं धम्मज्झाणं उत्तं तु पमायविरहिए ठाणे।
देसविरए पमत्ते उवयारेणेव णायव्वं ॥ ३७१ ॥

मुख्यं धर्मध्यानमुक्तं तु प्रमादविरहिते स्थाने।
देशविरते प्रमत्ते उपचारेणैव ज्ञातव्यं ॥

दहलक्खणसंजुत्तो अहवा धम्मोत्ति वण्णिओ सुत्ते।
चिंता जा तस्स हवे भणियं तं धम्मझाणुत्ति ॥ ३७२ ॥

दशलक्षणसंयुक्तोऽथवा धर्म इति वर्णितः सूत्रे।
चिन्ता या तस्य भवेत् भणितं तद्धर्मध्यानमिति ॥

अहवा वत्थुसहावो धम्मं वत्थू पुणो य सो अप्पा।
झायंताणं कहियं धम्मज्झाणं मुणिंदेहिं ॥ ३७३ ॥

अथवा वस्तुस्वभावो धर्मं वस्तु पुनश्च स आत्मा।
ध्यायमानानां तत् कथितं धर्मध्यानं मुनीन्द्रैः ॥

तं फुडु दुविहं भणियं सालंबं तह पुणो अणालंबं।
सालंबं पंचण्हं परमेट्ठीणं सरूवं तु ॥ ३७४ ॥

तत्स्फुटं द्विविधं भणितं सालम्बं तथा पुनरनालम्बं।
सालम्बं पञ्चानां परमेष्ठिनां स्वरूपं तु ॥

इगिसयसमवसरणो अट्ठमहापाडिहेरसंजुत्तो।
सियकिरणविप्फुरंतो झायव्वो अरुहपरमेट्ठी ॥ ३७५ ॥

१ क ख.।

हरिरचितसमवशरणोऽष्टमहाप्रातिहार्यसंयुक्तः ।
सितकिरणेन विस्फुरन् ध्यातव्योऽर्हत्परमेष्ठी ॥

णट्ठट्ठकम्मबंधो अट्ठगुणट्ठो य लोयसिहरत्थो ।
सुद्धो णिच्चो सुहमो झायव्वो सिद्धपरमेट्ठी ॥ ३७६ ॥

नष्टाष्टकर्मबन्धोऽष्टगुणस्थश्च लोकशिखरस्थ. ।
शुद्धो नित्यः सूक्ष्मः ध्यातव्य· सिद्धपरमेष्ठी ॥

छत्तीसगुणसमग्गो णिच्चं आयरइ पंचआयारो ।
सिस्साणुग्गहकुसलो भणिओ सो सूरिपरमेट्ठी ॥ ३७७ ॥

षट्त्रिंशद्गुणसमग्र· नित्यं आचरति पंचाचारं ।
शिष्यानुग्रहकुशलो भणितः स सूरिपरमेष्ठी ॥

अज्झावयगुणजुत्तो धम्मोवदेसयारि चरियट्ठो ।
णिस्सेसागमकुसलो परमेट्ठी पाठओ झाओ ॥ ३७८ ॥

अध्यापनगुणयुक्तो धर्मोपदेशकारी चर्यास्थः ।
निःशेषागमकुशलः परमेष्ठी पाठको ध्येयः ॥

उग्गतवतवियगत्तो तियालजोएण गमियअहरत्तो ।
साहियमोक्खस्सपओ झाओ सो साहुपरमेट्ठी ॥ ३७९ ॥

उग्रतपस्तपितगात्र. त्रिकालयोगेन गमिताहोरात्रः ।
साधितमोक्षपथः ध्येयः स साधुपरमेष्ठी ॥

एवं तं सालंबं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण ।
झायंताणं जायइ विणिज्जरा असुहकम्माणं ॥ ३८० ॥

एवं तत्सालंबं धर्मध्यानं भवति नियमेन ।
ध्यायमानानां जायते विनिर्जरा अशुभकर्मणां ॥

---

१ सिहरत्थो. क. । २ हो ख. ।

जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमायगुणठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियंजिणलिंगरूवस्स ॥ ३८१ ॥
यत्पुनरपि निरालंबं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने ।
त्यक्तगृहस्य जायते धृतजिनलिंगरूपस्य ॥
जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिचलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥ ३८० ॥
यो भणति कोऽप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानं ।
शुद्धं च निरालंबं न मनुते स आगमं यतीनां ॥
कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तह्मा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ ३८३ ॥
कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीहि ध्यानानि ।
तस्मात् स देशविरतो मुख्यं धर्म्यं न ध्यायति ॥
किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथपरिमिओ णिचं ।
वहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥
किं यत् स गृहवान् बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यं ।
बह्वारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानं ॥
घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ ३८५ ॥
गृहव्यापाराणि कियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि ।
ध्यानस्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षणः ॥
अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥ ३८६ ॥

१ जिणवरलिंगस्स स. ।

अथ द्विकुलिके ध्यानं ध्यायति अथवा स स्थपितिति ध्यानी ।
स्वपतः ध्यातव्यं न तिष्ठति चित्ते विकले ॥

झाणाणं संताणं अहवा जाएइ तस्स झाणस्स ।
आलंवणरहियस्स य ण ठाइ चित्तं थिरं जम्हा ॥३८७॥

ध्यानानां सन्ताने अथवा जायते तस्य ध्यानस्य ।
आलंबनरहितस्य च न तिष्ठति चित्त स्थिरं यस्मात् ॥

तम्हा सो सालंवं झायउ झाणं पि गिहवई णिचं ।
पंचपरमेट्ठीरूवं अहवा मंतक्खरं तेसिं ॥ ३८८ ॥

तस्मात् स सालंबं ध्यायतु ध्यानमपि गृहपतिर्नित्यं ।
पंचपरमेष्ठिरूपमथवा मंत्राक्षरं तेषां ॥

जइ भणइ को वि एवं गिहवावारेसु वट्टमाणो वि
पुण्णे अम्ह ण कज्जं जं संसारे सुपाडेई ॥ ३८९ ॥

यदि भणति कोऽप्येवं गृहव्यापारेषु वर्तमानोऽपि ।
पुण्येनास्माकं न कार्यं यत्संसारे सुपातयति ॥

मेहुणसण्णारूढो मारइ णवलक्खसुहुमजीवाई ।
इय जिणवरेहिं भणियं पज्झंतरणिग्गंथरूवेहिं ॥ ३९० ॥

मैथुनसंज्ञारूढो मारयति नवलक्षसूक्ष्मजीवान् ।
एतज्जिनवरैः भणितं बाह्याभ्यन्तरनिर्ग्रन्थरूपैः ॥

गेहे वट्टंतस्स य वावारसयाइं सया कुणंतस्स ।
आसवइ कम्ममसुहं अट्टरउद्दे पवत्तस्स ॥ ३९१ ॥

गेहे वर्तमानस्य च व्यापारशतानि सदा कुर्वतः ।
आस्रवति कर्माशुभं आर्तरौद्रप्रवृत्तस्य ॥

जं पुणु वि णिरालंवं तं झाणं गयपमायगुणठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियंजिणलिंगरूवस्स ॥ ३८१ ॥

यत्पुनरपि निरालंबं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने ।
त्यक्तगृहस्य जायते धृतजिनलिंगरूपस्य ॥

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंवं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥ ३८० ॥

यो भणति कोऽप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानं ।
शुद्धं च निरालंबं न मनुते स आगमं यतीनां ॥

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तह्मा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ ३८३ ॥

कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि जानीहि ध्यानानि ।
तस्मात् स देशविरतो मुख्यं धर्म्यं न ध्यायति ॥

किं जं सो गिहवंतो वहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं ।
बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥

किं यत् स गृहवान् बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यं ।
बह्वारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानं ॥

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ ३८५ ॥

गृहव्यापाराणि कियन्ति करणीयानि सन्ति तेन तानि सर्वाणि ।
ध्यानस्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षः ॥

अह ढिंकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झायव्वं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥ ३८६ ॥

१ जिणरूवलिंगस्स ख. ।

जं पुणु वि णिरालंबं तं झाणं गयपमायगुणठाणे ।
चत्तगेहस्स जायइ धरियंजिणलिंगरूवस्स ॥ ३८१ ॥

यत्पुनरपि निरालम्बं तद्ध्यानं गतप्रमादगुणस्थाने ।
त्यक्तगृहस्य जायते धृतजिनलिङ्गरूपस्य ॥

जो भणइ को वि एवं अत्थि गिहत्थाण णिच्चलं झाणं ।
सुद्धं च णिरालंबं ण मुणइ सो आयमो जइणो ॥ ३८२ ॥

यो भणति कोऽप्येवं अस्ति गृहस्थानां निश्चलं ध्यानं ।
शुद्धं च निरालम्बं न मनुते स आगमं यतीनां ॥

कहियाणि दिट्ठिवाए पडुच्च गुणठाण जाणि झाणाणि ।
तम्हा स देसविरओ मुक्खं धम्मं ण झाएई ॥ ३८३ ॥

कथितानि दृष्टिवादे प्रतीत्य गुणस्थानानि यानीह ध्यानानि ।
तस्मात् स देशविरतो मुख्यं धर्मं न ध्यायति ॥

किं जं सो गिहवंतो बहिरंतरगंथपरिमिओ णिच्चं ।
बहुआरंभपउत्तो कह झायइ सुद्धमप्पाणं ॥ ३८४ ॥

किं यत् स गृहवान् बाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरिमितो नित्यं ।
बह्वारम्भप्रयुक्तः कथं ध्यायति शुद्धमात्मानं ॥

घरवावारा केई करणीया अत्थि तेण ते सव्वे ।
झाणट्ठियस्स पुरओ चिट्ठंति णिमीलियच्छिस्स ॥ ३८५ ॥

गृहव्यापाराः केऽपि करणीयाः सन्ति तेन ते सर्वे ।
ध्यानस्थितस्य पुरतः तिष्ठन्ति निमीलिताक्षस्य ॥

अह ढिकुलिया झाणं झायइ अहवा स सोवए झाणी ।
सोवंतो झाणं ण ठाइ चित्तम्मि वियलम्मि ॥ ३८६ ॥

१ [illegible]

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिहिमंडलमज्झत्थं जालासयजलियणियदेहं ॥ ४२८ ॥

आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानं ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहं ॥

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो ।
पंधउ संतीमुद्दा पंचपरमेट्ठिणामाय ॥ ४२९ ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन् ।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंचपरमेष्ठिनामाने ॥

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरम्मि धरिऊण ।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवतयं अमयं ॥ ४३० ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा ।
तां मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्रवदमृतं ॥

पावेण सह सरीरं दड्ढं जं आसि झाणजलणेण ।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण [1]मंतेण ॥ ॥ ४३१ ॥

पापेन सह शरीरं दग्धं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन ।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥

पडिदियसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविहजोएण ।
तं णिड्डहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥ ४३२ ॥

प्रतिदिवसं यत्पापं पुरुष आस्रवति त्रिविधयोगेन ।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥

---

१ मज्झयर्दं स. । २ णिड्डहइ स. णिज्जरइ ।

तत्रापि विविधान् भोगान् नरक्षेत्रभवाननुपमान् परमान् ।
भुक्त्वा निर्विण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥

लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा ।
पाविय केवलणाणं जहखाइयसंजयं सुद्धं ॥ ४२३ ॥

लब्धं यदि चरमतनु चिरकृतपुण्येन सिद्ध्यति नियमात् ।
प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यातसंयतं शुद्धं ॥

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई ।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥

तस्मात्सम्यग्दृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य कारणं भवति ।
इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्जयतु यत्नेन ॥

पुण्णस्स कारणं फुडु पढमं ता हवइ देवपूया य ।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥ ४२५ ॥

पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च ।
कर्तव्या भक्त्या श्रावकवर्गेण परमया ॥

फासुयजलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं ।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमयासेणं ॥ ४२६ ॥

प्रासुकजलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थाने ।
ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन ॥

पुज्जाउवयरणाइ य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण ।
ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥ ४२७ ॥

पूजोपकरणानि च पार्श्वे सन्निधाय मन्त्रपूर्वेण ।
स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोतु मंत्रेण ॥

---

१ मे ख. । २ ए. ख. ।

आसणठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिहिमंडलमज्झत्थं जालासयजलियणियदेहं ॥ ४२८ ॥

आसनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानं ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहं ॥

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो ।
बंधउ संतीमुद्दा पंचपरमेट्ठिणामाय ॥ ४२९ ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन् ।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंचपरमेष्ठिनामानं ॥

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरसि धरिऊण ।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवतयं अमयं ॥ ४३० ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा ।
तां मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्रवदमृतं ॥

पावेण सह सरीरं दड्ढं जं आसि झाणजलणेण ।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण [1]मंतेण ॥ ॥ ४३१ ॥

पापेन सह शरीरं दग्धं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन ।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥

पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविहजोएण ।
तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥ ४३२ ॥

प्रतिदिवसं यत्पापं पुरुषः आस्रवति त्रिविधयोगेन ।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥

---

१ मज्झपयं ख. । २ णियदेहं ख. णिजदेहं ।

तत्रापि विविधान् भोगान् नरक्षेत्रभवाननुपमान् परमान्।
भुक्त्वा निर्विण्णः संयमं चैव गृह्णाति ॥

लद्धं जइ चरमतणु चिरकयपुण्णेण सिज्झए णियमा।
पाविय केवलणाणं जहखाइयसंजयं सुद्धं ॥ ४२३ ॥

लब्धं यदि चरमतनु चिरकृतपुण्येन सिद्ध्यति नियमात्।
प्राप्य केवलज्ञानं यथाख्यातसंयमं शुद्धं ॥

तम्हा सम्मादिट्ठी पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवई।
इय णाऊण गिहत्थो पुण्णं चायरउ जत्तेण ॥ ४२४ ॥

तस्मात्सम्यग्दृष्टेः पुण्यं मोक्षस्य कारणं भवति।
इति ज्ञात्वा गृहस्थः पुण्यं चार्जयतु यत्नेन ॥

पुण्णस्स कारणं फुड पढमं ता हवइ देवपूया य।
कायव्वा भत्तीए सावयवग्गेण परमाए ॥ ४२५ ॥

पुण्यस्य कारणं स्फुटं प्रथमं सा भवति देवपूजा च।
कर्तव्या भक्त्या श्रावकवर्गेण परमया ॥

फासुयजलेण ण्हाइय णिवसिय वत्थाइं गंपि तं ठाणं।
इरियावहं च सोहिय उवविसियं पडिमयासेणं ॥ ४२६ ॥

प्रासुकजलेन स्नात्वा निवेश्य वस्त्राणि गन्तव्यं तत्स्थानं।
ईर्यापथं च शोधयित्वा उपविश्य प्रतिमासनेन ॥

पुज्जाउवयरणाइं य पासे सण्णिहिय मंतपुव्वेण।
ण्हाणेणं ण्हाइत्ता आचमणं कुणउ मंतेण ॥ ४२७ ॥

पूजोपकरणानि च पार्श्वे सन्निधाय मंत्रपूर्वेण।
स्नानेन स्नात्वा आचमनं करोतु मंत्रेण ॥

---

१ मे ख. । २ ए. ख.।

आगमठाणं किच्चा सम्मत्तपुव्वं तु झाइए अप्पा ।
सिहिमंडलमज्झत्थं[1] जालासयजलियणियदेहं[2] ॥ ४२८॥

आगमनस्थानं कृत्वा सम्यक्त्वपूर्वं तु ध्यायतु आत्मानं ।
शिखिमण्डलमध्यस्थं ज्वालाशतज्वलितनिजदेहं ॥

पावेण सह सदेहं झाणे डज्झंतयं खु चिंतंतो ।
बंधउ संतीमुद्दा पंचपरमेट्ठिणामाय ॥ ४२९ ॥

पापेन सह स्वदेहं ध्याने दह्यमानं खलु चिन्तयन् ।
बध्नातु शान्तिमुद्रां पंचपरमेष्ठिनामानं ॥

अमयक्खरे णिवेसउ पंचसु ठाणेसु सिरम्मि धरिऊण ।
सा मुद्दा पुणु चिंतउ धाराहिं सवंतयं अमयं ॥ ४३० ॥

अमृताक्षरं निवेशयतु पंचसु स्थानेषु शिरसि धृत्वा ।
तां मुद्रां पुनः चिन्तयतु धाराभिः स्रवदमृतं ॥

पावेण सह सरीरं दड्ढं जं आसि झाणजलणेण ।
तं जायं जं छारं पक्खालउ तेण मंतेण ॥ ॥ ४३१ ॥

पापेन सह शरीरं दग्धं यत् आसीत् ध्यानज्वलनेन ।
तज्जातं यत्क्षारं प्रक्षालयतु तेन मंत्रेण ॥

पडिदिवसं जं पावं पुरिसो आसवइ तिविहजोएण ।
तं णिद्दहइ णिरुत्तं तेण ज्झाणेण संजुत्तो ॥ ४३२ ॥

प्रतिदिवसं यत्पापं पुरुषः आस्रवति त्रिविधयोगेन ।
तन्निर्दहति निःशेषं तेन ध्यानेन संयुक्तः ॥

---

१ मज्झगयं ख. । २ णियदेहं ख. णिजदेहं ।

जं सुद्धो तं अप्पा सकायरहिओ य कुणइ ण हु किं पि ।
तेण पुणो णियदेहं पुण्णण्णवं चिंतए झाणी ॥ ४३३ ॥
य: शुद्ध: आत्मा स्वकायरहितश्च करोति न हि किमपि ।
तेन पुनर्निजदेहं पुण्यार्णवं चिन्तयेत् ध्यानी ॥
उट्ठाविऊण देहं संपुण्णं कोडिचंदसंकासं ।
पच्छा सयलीकरणं कुणओ परमेट्ठिमंतेण ॥ ४३४ ॥
उत्थाप्य देहं सम्पूर्णं कोटिचन्द्रसंकाशं ।
पश्चात्सकलीकरणं करोतु परमेष्ठिमंत्रेण ॥
अहवा खिप्पेउ मा(से)हा णिस्सेउ करंगुलीहिं वामेहिं ।
पाए णाही हियए मुहे य सीसे य ठविऊणं ॥ ४३५ ॥
अथवा क्षिपेतु शेषा ? निवेशयतु ? कराङ्गुलै: वामै: ।
पादे नाभ्यां हृदये मुखे च शिरसि च स्थापयित्वा ॥
अंगे णासं किच्चा इंदो हं कप्पिऊण णियकाए ।
कंकण सेहर मुद्दी कुणओ जण्णोपवीयं च ॥ ४३६ ॥
अंगे न्यासं कृत्वा इन्द्रोऽहं कल्पयित्वा निजकाये ।
कंकण शेखरं मुद्रिकां कुर्यात् यज्ञोपवीतं च ॥
पीढं मेरुं कप्पिय तस्सोवरि ठाविऊण जिणपडिमा ।
पच्चक्खं अरहंतं चित्ते भावेउ भावेण ॥ ४३७ ॥
पीठं मेरुं कल्पयित्वा तस्योपरि स्थापयित्वा जिनप्रतिमां ।
प्रत्यक्षं अर्हन्तं चित्ते भावयेत् भावेन ॥
कलसचउक्कं ठाविय चउसु वि कोणेसु णीरपरिपुण्णं ।
घयदुद्धदहियभरियं णवसयदलछण्णसुद्दकमलं ॥ ४३८ ॥

---

१ समुद्दो सो अप्पा स. । संशुद्ध: स आत्मा । २ पे स. । ३ सहा स. ।

स पल्लवपुष्पकं स्थापयित्वा [illegible] ।
[illegible] ॥

आवाहिऊण देवे सुरवइसिहिकालणेरिए वरुणे ।
पवणे जक्खे ससूली सपियसवाहणे ससत्थे य ॥ ४३९ ॥

आहूय देवान् सुरपति-शिखि-कालनैर्ऋत-वरुणान् ।
पवनान् यक्षान् सशूलि सप्रियसवाहनान् सशस्त्रांश्च ॥

दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभाय च ।
सव्वेसिं मंतेहि य बीयक्खरणामजुत्तेहिं ॥ ४४० ॥

दत्त्वा पूजाद्रव्यं बलिचरुकं तथा च यज्ञभागं च ।
सर्वेषां मन्त्रैश्च बीजाक्षरनामयुक्तैः ॥

उच्चारिऊण मंते अहिसेयं कुणउ देवदेवस्स ।
णीरघयखीरदहियं खिवउ अणुक्कमेण जिणसीसे ॥ ४४१ ॥

उच्चार्य मन्त्रान् अभिषेकं कुर्यात् देवदेवस्य ।
नीरघृतक्षीरदधिकं क्षिपेत् अनुक्रमेण जिनशीर्षे ॥

ण्हवणं काऊण पुणो अमलं गंधोवयं च वंदित्ता ।
सवलहणं च जिणिंदे कुणउ कस्सीरमलएहिं ॥ ४४२ ॥

स्नपनं कारयित्वा पुनः अमलं गन्धोदकं च वन्दित्वा ।
उद्वर्तनं च जिनेन्द्रे कुर्यात् काश्मीरमलयैः ॥

आलिहउ सिद्धचक्कं पट्टे दव्वेहिं णिरसुयंधेहिं ।
गुरुउवएसेण फुडं संपुण्णं सव्वमंतेहिं ॥ ४४३ ॥

आलिखेत् सिद्धचक्रं पट्टे द्रव्यैः निःसुगन्धैः ।
गुरूपदेशेन स्फुटं संपन्नं सर्वमन्त्रैः ॥

सोलदलकमलमज्झे अरिहं विलिहेह विंदुकलमहियं ।
बंमेण वेढइत्ता उवरिं पुणु मायवीएण ॥ ४४४ ॥

षोडशदलकमलमध्ये अर्हं विलिखेत् बिन्दुकलसहितं ।
ब्रह्मणा वेष्टयित्वा उपरि पुनः मायाबीजेन ॥

सोलससरेहिं वेढहु देहवियप्पेण अट्ठवग्गा वि ।
अट्ठहिं दलेहिं सुपयं अरिहंताणं णमो सहियं ॥ ४४५ ॥

षोडशस्वरैः वेष्टय देहविकल्पेन अष्टवर्गानपि ।
अष्टभिर्दलैः सुपदं अर्हद्भ्यो नमः सहितं ॥

मायाए तं सव्वं तिउणं वेढेह अंकुसारुद्धं ।
कुणह धरामंडलयं बाहिरयं सिद्धचक्कस्स ॥ ४४६ ॥

मायया तत्सर्वं त्रिगुणं वेष्टयेत् अंकुशारुद्धं ।
कुर्यात् धरामण्डलकं बाह्यं सिद्धचक्रस्य ॥

इय संखेवं कहियं जो पूयइ गंधदीवधूवेहिं ।
कुसुमेहिं जवइ णिच्चं सो हणइ पुराणयं पावं ॥ ४४७ ॥

इति सक्षेपेण कथितं यः पूजयति गन्धदीपधूपैः ।
कुसुमैः जपति नित्यं स हन्ति पुराणकं पापं ॥

जो पुणु वड्डदो(द्दा)रो सव्वो भणिओ हु सिद्धचक्कस्स ।
सो एहिं ण उद्धरिओ इण्हिं सामग्गि ण उ तस्स ॥ ४४८ ॥

यः पुनः बृहदुद्धारो सर्वो भणितो हि सिद्धचक्रस्य ।
सोऽत्र न उद्धरितः इदानीं सामग्री न च तस्य ॥

---

१ सोलहदलकंकमलमज्झे. ग. । २ वेढुत्ता क. । ३ पुराकय ग. । पुराइनं । ४ वड्डदारो । ५ इण्ह. ग ।

जइ पुज्जइ को वि णरो उद्धारित्ता गुरुवएसेण ।
अट्ठदलदिउणतिउणं चउग्गुणं बाहिरे कंजे ॥ ४४९ ॥

यदि पूजयति कोऽपि नर उद्धाय गुरूपदेशेन ।
अष्टदलद्विगुणत्रिगुणं चतुर्गुणं बाह्ये कंजे ॥

मज्झे अरिह देवं पंचपरमेट्ठिमंतसंजुत्तं ।
लिहिऊण कण्णियाए अट्ठदले अट्ठदेवीओ ॥ ४५० ॥

मध्ये अर्हं देवं पंचपरमेष्ठिमंत्रयुक्तं ।
लिखित्वा कर्णिकायां अष्टदले अष्टदेवी ॥

सोलहदलेसु सोलहविज्जादेवीउ मंतसहियाओ ।
चउवीसं पत्तेसु य जक्खा जक्खी य चउवीसं ॥ ४५१ ॥

षोडशदलेषु षोडशविद्यादेवी मंत्रसहिता ।
चतुर्विंशती पत्रेषु च यक्षान् यक्षीश्च चतुर्विंशति ॥

बत्तीसा अमरिंदा[1] लिहिह बत्तीसकंजपत्तेसु ।
णियणियमंतपउत्ता गणहरवलएण वेढेह ॥ ४५२ ॥

द्वात्रिंशतममरेन्द्रान् लिखेत् द्वात्रिंशत्कंजपत्रेषु ।
निजनिजमंत्रप्रयुक्तान् गणधरवलयेन वेष्टयेत् ॥

सत्तप्पयाररेहा सत्त वि विलिहेह वज्जसंजुत्ता ।
चउरंसो चउदारा कुणह पयत्तेण जुत्तीए ॥ ४५३ ॥

सप्तप्रकाररेखा सप्तापि विलिखेत् वज्रसंयुक्ता ।
चतुरंसाश्चतुर्द्वारान् कुर्यात् प्रयत्नेन युक्त्या ॥

एवं जंतुद्धारं इत्थं मइ अविरयं समासेण ।
सेसं किं पि विहाणं णायव्वं गुरुपसाएण ॥ ४५४ ॥

---

१ कप्पेसा ख. । कल्पेशान् ।

एवं यंत्रोद्धारं इत्थं मया कथितं समासेन ।
शेषं किमपि विधानं ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन ॥

अट्ठविहअच्चणाए पुज्जेयव्वं इमं खु णियमेण ।
दव्वेहिं सुअंधेहि य लिहियव्वं अइपवित्तेहिं ॥ ४५५ ॥

अष्टविधार्चनया पूजितव्यं इदं खलु नियमेन ।
द्रव्यैः सुगन्धैश्च लेखितव्यं अतिपवित्रैः ॥

जो पुज्जइ अणवरयं पावं णिद्दहइ आसिभवबद्धं ।
पडिदिणकयं च विहुणइ बंधइ पउराइं पुण्णाइं ॥ ४५६ ॥

यः पूजयति अनवरतं पापं निर्दहति पूर्वभवबद्धं ।
प्रतिदिनकृतं च विहन्ति बध्नाति प्रचुराणि पुण्यानि ॥

इह लोए पुण मंता सव्वे सिज्झंति पढियमित्तेण ।
विज्जाओ भव्वाओ हवंति फुड माणुहूलाओ ॥ ४५७ ॥

इहलोके पुनर्मंत्राः सर्वे सिद्ध्यन्ति पठितमात्रेण ।
विद्या भव्यो भवन्ति स्फुटं मानुतुल्या ॥

गहभूयडायणीओ सव्वे णासंति तस्स णामेण ।
णिव्विग्घेण पयट्टइ मुणिदचक्कप्पहावेण ॥ ४५८ ॥

ग्रहभूतडाकिन्यः सर्वा नश्यन्ति तस्य नाम्ना ।
निर्विघ्नेन प्रवर्तते मुनिन्द्रचक्रप्रभावेन ॥

वसियरणं आकड्ढी थंभ मोहं च संतिकम्माणि ।
णाणाजराण हरणं कुणइ ते झाणजोएण ॥ ४५९ ॥

[illegible]
[illegible]

---

१ [illegible]

पावंति ण जस्स विउणा मणू मित्तमयं च उववादि ।
पुज्जा हवेइ लोए सुरवग्गहो णरवरिंदाणं ॥ ४६० ॥

प्राप्नुवन्ति न यस्य विपुलाः [illegible] मित्रं च उपपादि ।
पूज्यो भवति लोके सुरगणो नरवरेन्द्राणां ॥

किं बहुणा उत्तेण य मोक्खं सोक्खं च लब्भई जेण ।
केत्तियमेत्तं एयं सुसाहियं सिद्धचक्केण ॥ ४६१ ॥

किं बहुना उक्तेन च मोक्षः सौख्यं च लभ्यते येन ।
कियन्मात्रमेव सुसाधितं सिद्धचक्रेण ॥

अहवा जइ असमत्थो पुज्जइ परमेट्ठिपंचयं चक्कं ।
तं पावइ खु लोए इच्छियफलदायगं परमं ॥ ४६२ ॥

अथवा यद्यसमर्थः पूजयेत् परमेष्ठिपञ्चकं चक्रं ।
तत् प्राप्नोति खलु लोके इच्छितफलदायकं परमं ॥

सिररेहभिण्णसुण्णं चंदकलाबिंदुएण संजुत्तं ।
मत्ताहिवउवरिगयं सुवेढियं कामबीएण ॥ ४६३ ॥

शिरोरेफभिन्नशून्यं चन्द्रकलाबिन्दुकेन संयुक्तं ।
मात्राधिकोपरिगतं सुवेष्टितं कामबीजेन ॥

वामदिसाइं णयारं मयारसविसग्गदाहिणे भाए ।
बहिअट्ठपत्तकमलं तिउणं वेढह मायाए ॥ ४६४ ॥

वामदिशायां नकारं मकारसविसर्गदक्षिणे भागे ।
बहिरष्टपत्रकमलं त्रिगुणं वेष्टयेत् मायया ॥

पणमंति मुत्तिमेगे अरहंतपयं दलेसु सेसेसु ।
धरणीमंडलमज्झे झाएह सुरच्चियं चक्कं ॥ ४६५ ॥

---

१ सव्वं स । २ मोक्खं स. । ३ ए. स. । ४ मंताहिव स ।

एवं संदेहस्य इदं सदा कथितं समासेन।
[illegible] किमपि विधानं ध्यानस्य गुप्तमादेन॥

अइरिक्खमणाए पुणोमचं इमं णु णियमेण।
एसोहिं सुअंधहि य णिहियव्वं अइपविसेहिं॥ ४५५॥

[illegible]
[illegible] ॥

जो गुणइ अणवरयं पावं णिरहइ आणिभवाई।
परिहरिणजो य णिहुणइ बंधइ पउराई पुण्णाई॥ ४५६॥

[illegible]
[illegible] ॥

इह लोए पुण भोगा पावे णिरहंति पहिणणिचेण।
णिव्वाणं णणओ होति पुढ णाणुसासणे॥ ४५७॥

[illegible]
[illegible] ॥

सङ्गामसामत्थेण मारे मारेति मारा मारेण।
[illegible] ॥ ४५८॥

[illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible] ॥ ४५९॥

[illegible]
[illegible]



प्रणव इति ! मूर्तिमेकस्मिन् ! अर्हत्पदं दलेषु शेषेषु ।
धरणीमण्डलमध्ये ध्यायेत् सुरार्चितं चक्रं ॥

अह एउणवण्णासे कोट्ठे काऊण विउलरेहाहिं ।
अयरोइअक्खराइं कमेण विण्णिसह सव्वाइं ॥ ४६६ ॥

अथवा एकोनपंचाशान् कोष्टान् कृत्वा विपुलरेखाभिः ।
अतिरोच्यक्षराणि क्रमेण विनिवेशय सर्वाणि ॥

ता णिसह जहयारं मज्झिमठाणेसु ठाइ जुत्तीए ।
वेढह बीएण पुणो इलमंडलउयरमज्झत्थं ॥ ४६७ ॥

तावत् निवेशय यथाकारं मध्यमस्थानेषु स्थापय युक्त्या ।
वेष्टय बीजेन पुनः इलामण्डलोदरमध्यस्थं ॥

एए जंतुद्धारे पुज्जह परमेट्ठिपंचअहिहाणे ।
इच्छइ फलदायारो पावघणपडलहंतारो ॥ ४६८ ॥

एतान् यंत्रोद्धारान् पूजयेत् परमेष्ठिपंचाभिधाना[१] ।
इच्छितफलदातॄन् पापघनपटलहन्तॄन् ॥

अट्ठविहच्चण काउं पुव्वपउत्तम्मि ठावियं पडिमा ।
पुज्जेह तग्गयमणो विविहाहि पुज्जाहिं भत्तीए ॥ ४६९ ॥

अष्टविधार्चनां कृत्वा पूर्वप्रोक्ते स्थापितां प्रतिमा ।
पूजयेत् तद्गतमनाः विविधाभिः पूजाभिः भक्त्या ॥

पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्णजलधारा ।
भिंगारणालणिग्गय भयंतभिंगेहि कव्वुरिया ॥ ४७० ॥

प्रशमति रजः अशेष जिनपदकमलेषु दत्तजलधारा ।
भृंगारनालनिर्गता भ्रमद्भृंगैः कर्बुरिता ॥

१ ह. म. । २ ठाविउ—स्थापयित्वा म ।

चंदणसुअंधलेओ जिणवरचलणेसु जो कुणइ भविओ ।
लहइ तणु विक्किरियं सहावसुयंधयं अमलं ॥ ४७१ ॥

चन्दनसुगन्धलेपं जिनवरचरणेषु यः करोति भव्यः ।
लभते तनुं वैक्रियिकं स्वभावसुगन्धं अमलं ॥

पुण्णाणं पुज्जेहिं य अक्खयपुंजेहिं देवपयपुरओ ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवट्टित्तं ॥ ४७२ ॥

पुण्यं पूजयेत् अक्षतपुंजैः देवपदपुरतः ।
लभन्ते नवनिधानानि स्वक्षयानि चक्रवर्तित्वं ॥

अलिचुंबिएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं ।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवरवणेहिं ॥ ४७३ ॥

अलिचुम्बितैः पूजयति जिनपदकमलं च जातिमल्लिकैः ।
स भवति सुरवरेन्द्रः रमते सुरतरुवरवनेषु ॥

दहिखीरसप्पिसंभवउत्तमचरुएहिं पुज्जए जो हु ।
जिणवरपायपओरुह सो पावइ उत्तमे भोए ॥ ४७४ ॥

दधिक्षीरसर्पिःसंभवोत्तमचरुकैः पूजयेत् यो हि ।
जिनवरपादपयोरुहं स प्राप्नोति उत्तमान् भोगान् ॥

कप्पूरतेल्लपयलियमंदमरुपहयणडियदीवेहिं ।
पुज्जइ जिणपयपोमं ससिसूरविसमतणुं लहई ॥ ४७५ ॥

कर्पूरतैलप्रज्वलितमन्दमरुत्प्रहतनटितदीपैः ।
पूजयति जिनपदपद्मं शशिसूर्यसमतनुं लभते ॥

सिल्हारसअयरुम्मीसियणिग्गयधूवेहिं बहलधूमेहिं ।
धूवइ जो जिणचरणेसु लहइ सुहवत्तणं तिजए ॥ ४७६ ॥

---

१ नवनिहाणे ख । २ पुण अक्खये ख. । ३ जिणपयजुयलं ख । ४ सिल्हार सगुरु. ख । ५ सुरवत्तणं तिजाइ ख, सुहवत्तणं तिजएगं क ।

मिताप्रमाणमिश्रितनिर्गमपूर्वः अष्टरूपैः ।
पुरोदि जिनचरणेषु नरो शुभवर्तन [illegible] ॥

एएहिं अट्ठविहेहिं जिणचरणपुज्जोवयरणेहिं ।
णाणाफलेहिं पावइ पुरिसो हियइच्छियं सुफलं ॥ ४७७ ॥

एतैः अष्टविधैः जिनचरणपूजोपकरणैः ।
नानाफलैः प्राप्नोति पुरुषः हृदयेप्सितं सुफलं ॥

इय अट्ठभेयअच्चण काऊं पुण जाइ मुत्तिरिक्का य ।
जा जत्थ जहाजुणा गयं च अट्ठोणइ जाता ॥ ४७८ ॥

इत्यष्टभेदार्चनं कृत्वा पुनः [illegible] य ।
[illegible] ॥

जिणा काउस्सग्गं देहे धारइ [illegible] ।
[illegible] ॥ ४७९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ ४८० ॥

[illegible]
[illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥ ४८१ ॥

[illegible]

[illegible]

इति ज्ञात्वा विशेषं पुण्यं अर्जयेत् कारणं तस्य।
पावद्यं यावत् सकलं संयमं अप्रमत्तं च॥

भावइ अणुव्वयाइं पालइ सीलं च कुणइ उववासं।
पव्वे पव्वे णियमं दिज्जइ अणवरइ दाणाइं॥ ४८८॥

भावयेत् अणुव्रतानि पालयेत् शीलं च कुर्यादुपवासं।
पर्वे पर्वे नियमं दद्यात् अनवरतं दानानि॥

अभयपयाणं पढमं विदियं तह होइ सत्थदाणं च।
तइयं ओसहदाणं आहारदाणं चउत्थं च॥ ४८९॥

अभयप्रदानं प्रथमं द्वितीयं भवति शास्त्रदानं च।
तृतीयं औषधदानं आहारदानं चतुर्थं च॥

सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरूणं।
सो णिब्भओ तिलोए उक्किट्ठो होइ सव्वेसिं॥ ४९०॥

सर्वेषां जीवानां अभयं यो ददाति मरणभीरुभ्यः।
स निर्भयः त्रिलोके उत्कृष्टो भवति सर्वेषां॥

सुयदाणेण य लब्भइ मइसुयणाणं च ओहिमणणाणं।
बुद्धितवेण य सहियं पच्छा वरकेवलं णाणं॥ ४९१॥

श्रुतदानेन च लभते मतिश्रुतज्ञाने च अवधिमनःपर्ययज्ञाने।
बुद्धितपसा च सहितं पश्चात् वरकेवलं ज्ञानं॥

ओसहदाणेण णरो अतुलियबलपरक्कमो महासत्तो।
वाहिविमुक्कसरीरो चिराउ सो होइ तेयड्ढो॥ ४९२॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

औषधदानेन नरोऽतुलितबलपराक्रमो महासत्वः ।
व्याधिविमुक्तशरीरश्चिरायुः स भवति तेजस्वः ॥

दाणस्साहार फलं को सक्कइ वण्णिऊण भुवणयले ।
दिण्णेण जेण भोआ लब्भंति मणिच्छिया सव्वे ॥ ४९३ ॥

दानस्य आहारस्य फलं कः शक्नोति वर्णयितुं भुवनतले ।
दत्तेन येन भोगा लभ्यन्ते मनइच्छिताः सर्वे ॥

दायारो वि य पत्तं दाणविसेसो तहा विहाणं च
एए चउअहियारा णायव्वा होंति भव्वेण ॥ ४९४ ॥

दातापि च पात्रं दानविशेषस्तथा विधानं च ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति भव्येन ॥

दायारो उवसंतो मणवयकाएण संजुओ दच्छो ।
दाणे कयउच्छाहो पयडियवरलग्गुणो अमयो ॥ ४९५ ॥

दाता उपशान्तो मनोवचनकायेन संयुक्तो दक्ष. ।
दाने कृतो साहः प्रकटितवरगुणः अमयः ॥

भत्ती तुट्ठी य खमा सद्धा सत्तं च लोहपरिचाओ ।
विण्णाणं तक्काले सत्तगुणा होंति दायारे ॥ ४९६ ॥

भक्तिः तुष्टि. क्षमा श्रद्धा सत्वं च लोभपरित्याग' ।
विज्ञानं तत्काले सप्तगुणा भवन्ति दातरि ॥

तिवहं भणंति पत्तं मज्झिम तह उत्तमं जहण्णं च ।
उत्तमपत्तं साहू मज्झिमपत्तं च सावया भणिया ॥ ४९७ ॥

त्रिविधं भणन्ति पात्रं मध्यमं तथोत्तमं जघन्यं च ।
उत्तमपात्रं साधु मध्यमपात्रं च श्रावका भणिताः ॥

---

१ विणइ स. विरदी ।

अविरइसम्मादिट्ठी जहण्णपत्तं तु अक्खियं समये।
णाउं पत्तविसेसं दिज्जह दाणाइं भत्तीए ॥ ४९८ ॥

अविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यपात्रं तु कथितं समये।
ज्ञात्वा पात्रविशेषं दद्यात् दानानि भक्त्या ॥

मिच्छादिट्ठी पुरिसो दाणं जो देइ उत्तमे पत्ते।
सो पावइ वरभोए फुडु उत्तमभोयभूमीसु ॥ ४९९ ॥

मिथ्यादृष्टिः पुरुषो दानं यो ददाति उत्तमे पात्रे।
स प्राप्नोति वरभोगान् स्फुटं उत्तमभोगभूमिषु ॥

मज्झिमपत्ते मज्झिमभोयभूमीसु पावए भोए।
पावइ जहण्णभोए जहण्णपत्तस्स दाणेण ॥ ५०० ॥

मध्यमपात्रे मध्यमभोगभूमिषु प्राप्नोति भोगान्।
प्राप्नोति जघन्यभोगान् जघन्यपात्रस्य दानेन ॥

उत्तमछित्ते वीयं फलइ जहा लक्खकोडिगुणेहिं।
दाणं उत्तमपत्ते फलइ तहा किमिच्छभणिएण ॥५०१॥

उत्तमक्षेत्रे बीजं फलति यथा लक्षकोटिगुणैः।
दानं उत्तमपात्रे फलति तथा किमिच्छभणितेन ॥

सम्मादिट्ठी पुरिसो उत्तमपुरिसस्स दिण्णदाणेण।
उववज्जइ दिवलोए हवइ स महड्डिओ देवो ॥ ५०२ ॥

सम्यग्दृष्टिः पुरुषः उत्तमपुरुषस्य दत्तदानेन।
उत्पद्यते स्वर्गलोके भवति स महर्द्धिको देवः ॥

जह णीरं उच्छुगयं कालं परिणवइ अमयरूवेण।
तह दाणं वरपत्ते फलेइ भोएहिं विविहेहिं ॥ ५०३ ॥

१-५०१ [illegible]

तथा [illegible] ।

तथा [illegible] ॥

उवसमदव्वं तु जहा उवसमपुव्वियागिदं च बहुसुद्धं ।
तह उवसमणगयं दाणं णिद्दिट्ठं पावण्णं ॥ ५०४ ॥

उपशमद्रव्यं तु यथा उपशमपूर्वापितं च बहुत्वं ।

तथोपशमगतं दानं निर्दिष्टं [illegible] ॥

किं किंचि वि वेदमयं किंचि वि पत्तं तवोमयं परमं ।
तं पत्तं संसारे तारणयं होइ णियमेण ॥ ५०५ ॥

किं किंचिदपि वेदमयं किंचिदपि पात्रं तपोमयं परमं ।

तत्पात्रं संसारे तारकं भवति नियमेन ॥

वेओ किल सिद्धंतो तस्सट्ठा णवपयत्थछद्दव्वं ।
गुणमग्गणठाणा वि य जीवट्ठाणाणि सव्वाणि ॥ ५०६ ॥

वेदः किल सिद्धान्तः तस्यार्था नवपदार्थषड्द्रव्याणि ।

गुणमार्गणास्थानान्यपि च जीवस्थानानि सर्वाणि ॥

परमप्पयस्स रूवं जीवकम्माण उहयसब्भावं ।
जो जाणइ सविसेसं वेयमयं होइ तं पत्तं ॥ ५०७ ॥

परमात्मनो रूपं जीवकर्मणोरुभयोः स्वभावं ।

यो जानाति सविशेषं वेदमयं भवति तत्पात्रं ॥

बाहिरब्भंतरतवसा कालो परिगमइ जिणोवएसेण ।
दिढबंभचेर णाणी पत्तं तु तवोमयं भणियं ॥ ५०८ ॥

बाह्याभ्यन्तरतपसा कालं परिगमयति जिनोपदेशेन ।

दृढब्रह्मचर्यो ज्ञानी पात्रं तु तपोमयं भणितं ॥

---

१ किंचि वि वेदमयं पत्त स. २ भणियं. ख. । ३ होंति ख. । ४ व्वा ख. ।

जह णावा णिच्छिद्दा गुणमइया विविहरयणपरिपुण्णा।
तारइ पारावारे बहुजलयरसंकडे भीमे ॥ ५०९ ॥

यथा नौः निश्छिद्रा गुणमया विविधरत्नपरिपूर्णा।
तारयति पारावारे बहुजलचरसंकटे भीमे ॥

तह संसारसमुद्दे जाइजरामरणजलयराइण्णे ।
दुक्खसहस्सावत्ते तारेइ गुणाहियं पत्तं ॥ ५१० ॥

तथा संसारसमुद्रे जातिजरामरणजलचराकीर्णे ।
दुःखसहस्रावर्ते तारयति गुणाधिकं पात्रं ॥

कुच्छिगयं जस्सण्णं जीरइ तवझाणबंभचरिएहिं ।
सो पत्तो णित्थारइ अप्पाणं चेव दायारं ॥ ५११ ॥

कुक्षिगतं यस्यान्नं जीर्यते तपोध्यानब्रह्मचर्यैः ।
तत्पात्रं निस्तारयति आत्मानं चैव दातारं ॥

एरिसपत्तम्मि वरे दिज्जइ आहारदाणमणवज्जं ।
पासुयसुद्धं अमलं जोग्गं मणदेहसुक्खयरं ॥ ५१२ ॥

एतादृशपात्रे वरे दद्यात् आहारदानमनवद्यं ।
प्रासुकशुद्धं अमलं योग्यं मनोदेहसुखकरं ॥

कालस्स य अणुरूवं रोयारोयत्तणं च णाऊणं ।
दायव्वं जहजोग्गं आहारं गेहवंतेण ॥ ५१३ ॥

कालस्य चानुरूपं रोगारोगत्वं च ज्ञात्वा ।
दातव्यं यथायोग्यं आहारं गृहवता ॥

पत्तंमि मज्झ जं दिण्णं दायरेण भत्तीए ।
तं करणं सोदिय पडियस्स णिच्छएण ॥ ५१४ ॥

ता देहो ता पाणा ता रूवं ताम णाणविण्णाणं ।
जामाहारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो ॥ ५२० ॥

तावद्देहस्तावत्प्राणास्तावद्रूपं तावज्ज्ञानविज्ञानं ।
यावदाहारः प्रविशति देहे जीवानां सुखकरः ॥

आहारमणे देहो देहेण तवो तवेण रयणडणं ।
रयणासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणो भणइ ॥ ५२१ ॥

आहारमये देहो देहेन तपस्तपसा रजःसटनं ।
रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणति ॥

चउविहदाणं उत्तं जं तं सयलंमवि होइ इह दिण्णं ।
सविसेसं दिण्णेण य इक्केणाहारदाणेण ॥ ५२२ ॥

चतुर्विधदानं उक्तं यत् तत्सकलमपि भवति इह दत्तं ।
सविशेषं दत्तेन च एकेनाहारदानेन ॥

भुक्खाकयमरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं ।
सो एव हणइ वाही उसहं तेण आहारो ॥ ५२३ ॥

बुभुक्षाकृतमरणभयं नाशयति जीवानां तेन तदभयं ।
स एव हन्ति व्याधिं औषधं तेनाहारः ॥

आयारईगन्थं आहारबलेण पढइ णिस्सेसं ।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥ ५२४ ॥

आचारादिग्रन्थं आहारबलेन पठति निःशेषं ।
तस्मात् तत् श्रुतदानं दत्तं आहारदानेन ॥

हयगयगोदाणाइं धरणिरयणजाणदाणाइं ।
तित्तिं ण कुणंति सया जह तित्तिं कुणइ आहारो ॥ ५२५ ॥

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible]

हयगजगोदानानि धरणीरत्नकनकयानदानानि ।
तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥

जह रइणाणं वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू ।
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥ ५२६ ॥

यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः ।
तथा दानानां प्रवर आहारो भवति ज्ञातव्यः ॥

सो दायव्वो पत्ते विहाणजुत्तेण सा विही एसा ।
पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयअंचणं च पणमं च ॥ ५२७ ॥

स दातव्यः पात्रे विधानयुक्तेन स विधिरेषः ।
प्रतिग्रहमुच्चस्थाने पादोदकमर्चनं च प्रणामं च ॥

मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्वा ।
होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुव्वकम्मेण ॥ ५२८ ॥

मनश्वचनकायशुद्धिरेषणशुद्धिश्च परमा कर्तव्या ।
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्मणा ॥

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्धभत्तीए ।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं ॥ ५२९ ॥

एवं विधिना युक्तं देयं दानं त्रिशुद्धभक्त्या ।
वर्जयित्वा कुत्सितपात्रं तथा चापात्रं च निःसारं ॥

जं रयणत्तयरहियं मिच्छामयकहियधम्मअणुलग्गं ।
जइ वि हु तवइ सुघोरं तहा वि तं कुच्छियं पत्तं ॥५३०॥

यद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामतकथितधर्मानुलग्नं ।
यद्यपि हि तप्यते सुघोरं तथापि तत्कुत्सितं पात्रं ॥

---

१ विहिणा ख विधिना । २ पुव्व. ख. पुव्व । ३ लहियं क-पुस्तके ।
४ यम क ।

ता देहो ता पाणा ता रूवं ताम णाणविण्णाणं ।
जामाहारो पविसइ देहे जीवाण सुक्खयरो ॥ ५२० ॥

तावद्देहस्तावत्प्राणास्तावद्रूपं तावज्ज्ञानविज्ञानं ।
यावदाहारो प्रविशति देहे जीवाना सुखकर: ॥

आहारसणे देहो देहेण तवो तवेण रयसडणं ।
रयणासेण य णाणं णाणे मुक्खो जिणो भणई ॥ ५२१ ॥

आहाराशने देहो देहेन तपस्तपसा रज:सटनं ।
रजोनाशेन च ज्ञानं ज्ञाने मोक्षो जिनो भणति ॥

चउविहदाणं उत्तं जं तं सयलंमवि होइ इह दिण्णं ।
सविसेसं दिण्णेण य इक्केणाहारदाणेण ॥ ५२२ ॥

चतुर्विधदान उक्त यत् तत्सकलमपि भवति इह दत्तं ।
सविशेषं दत्तेन च एकेनाहारदानेन ॥

भुक्खाकयमरणभयं णासइ जीवाण तेण तं अभयं ।
सो एव हणइ वाही उसहं तेण आहारो ॥ ५२३ ॥

बुभुक्षाकृतमरणभयं नाशयति जीवाना तेन तदभयं ।
स एव हन्ति व्याधिं औषधं तेनाहार: ॥

आयाराईसत्थं आहारबलेण पढइ णिस्सेसं ।
तम्हा तं सुयदाणं दिण्णं आहारदाणेण ॥ ५२४ ॥

आचारादिशास्त्रं आहारबलेन पठति नि:शेषं ।
तस्मात् तच्छ्रुतदानं दत्तं आहारदानेन ॥

हयगयगोदाणाइं धरणीरयकणयजाणदाणाइं ।
तित्तिं ण कुणंति मया जह तित्तिं कुणइ आहारो ॥ ५२५

१ सयलं पि ख. । २ क्षुद्व्याधिं । ३ धरणीरयकणयरयणदाणाई ख. । जैण क. ।

हयगजगोदानानि धरणीरत्नकनकयानदानानि ।
तृप्तिं न कुर्वन्ति सदा यथा तृप्तिं करोति आहारः ॥

जह रइणाणं वइरं सेलेसु य उत्तमो जहा मेरू ।
तह दाणाणं पवरो आहारो होइ णायव्वो ॥ ५२६ ॥

यथा रत्नानां वज्रं शैलेषु च उत्तमो यथा मेरुः ।
तथा दानानां प्रवर आहारो भवति ज्ञातव्यः ॥

सो दायव्वो पत्ते विहाणजुत्तेण सा विही एसा ।
पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयअंचणं च पणमं च ॥ ५२७ ॥

स दातव्यः पात्रे विधानयुक्तेन स विधिरेष ।
प्रतिग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं च प्रणामं च ॥

मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धी य परम कायव्वा ।
होइ फुडं आयरणं णवव्विहं पुव्वकम्मेण ॥ ५२८ ॥

मनवचनकायशुद्धिरेषणशुद्धिश्च परमा कर्तव्या ।
भवति स्फुटमाचरणं नवविधं पूर्वकर्मणा ॥

एवं विहिणा जुत्तं देयं दाणं तिसुद्धभत्तीए ।
वज्जिय कुच्छियपत्तं तह य अपत्तं च णिस्सारं ॥ ५२९ ॥

एवं विधिना युक्तं देयं दानं त्रिशुद्धभक्त्या ।
वर्जयित्वा कुत्सितपात्रं तथा चापात्रं च निःसारं ॥

जं रयणत्तयरहियं मिच्छामयकहियधम्मअणुलग्गं ।
जइ वि हु तवइ सुघोरं तहा वि तं कुच्छियं पत्तं ॥५३०॥

यद्रत्नत्रयरहितं मिथ्यामतकथितधर्मानुलग्नं ।
यद्यपि हि तप्यते सुघोरं तथापि तत्कुत्सितं पात्रं ॥

---

१ विहिणा ख. विधिना । २ पुष. ख. पुण्य । ३ गहियं क-पुस्तके । ४ यम. क. ।

जस्स ण तवो ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई।
तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥ ५३१॥

यस्य न तपो न चरण न चापि यस्यास्ति वरगुणः कश्चित्।
तज्जानीयादपात्रमफलं दानं कृतं तस्य ॥

ऊसरखित्ते वीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ।
जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई॥ ५३२॥

ऊपरक्षेत्रे बीजं शुष्के वृक्षे च नीराभिषेकः।
यथा तथा दानमपात्रे दत्तं खलु निरर्थकं भवति ॥

कुच्छियपत्ते किंचि वि फलइ कुदेवेसु कुणरतिरिएसु।
कुच्छियभोयधरासु य लवणंबुहिकालउवहीसु ॥ ५३३॥

कुत्सितपात्रे किंचिदपि फलति कुदेवेषु कुनरतिर्यक्षु ।
कुत्सितभोगधरासु च लवणाम्बुधिकालोदधिषु ॥

लवणे अडयालीसा कालसमुद्दे य तित्तिया चेव।
अंतरदीवा भणिया कुभोयभूमीय विक्खाया ॥ ५३४॥

लवणे अष्टचत्वारिंत् कालसमुद्रे च तावन्त एव ।
अन्तर्द्वीपा भणिता कुभोगभूम्या विख्याताः ॥

उप्पज्जंति मणुस्सा कुपत्तदाणेण तत्थ भूमीसु ।
जुयलेण[1] गेहरहिया णग्गा तरुमूलि णिवसंति ॥ ५३५॥

उत्पद्यन्ते मनुष्या कुपात्रदानेन तत्र भूमिषु ।
युगलेन गृहरहिता नग्नाः तरुमूले निवसन्ति ॥

पल्लोवमआउस्सा वत्थाहरणेहि वज्जिया णिच्चं।
तरुपल्लवपुप्फरसं फलाण रसं चेव भक्खंति ॥ ५३६॥

1 जुवलेय स ।

पल्योपमायुषः वस्त्राभरणेन वर्जिता नित्यं ।
तरुपत्रपुष्परस फलानां रस चैव भक्षयन्ति ॥

दीवे कहिं वि मणुया मक्करगुडखंडसण्णिहा भूमी ।
भक्खंति पुट्ठिजणया अइमरसा पुव्वकम्मेणं ॥ ५३७ ॥

द्वीपे क्वापि मनुजा शर्करागुडखण्डसन्निभा भूमिं ।
भक्षयन्ति पुष्टिजनका अतिसरसां पूर्वकर्मणा ॥

केई गयसीहमुहा केई हरिमहिसकविकोलमुहा ।
केई आदरिममुहा केई पुण एयपाया य ॥ ५३८ ॥

केचित् गजसिंहमुखाः केचिद्धरिमहिषकपिकोडकमुखाः ।
केचिदादर्शमुखाः केचित्पुनः एकपादाश्च ॥

ममसुक्कलिकण्णा वि य कण्णप्पावरणदीहकण्णा य ।
लंगूलधरा अवरे अवरे मणुया अभासा य ॥ ५३९ ॥

शशशष्कुलिकर्णा अपि च कर्णप्रावरणदीर्घकर्णाश्च ।
लाङ्गूलधरा अपरे अपरे मनुष्या अभाषकाश्च ॥

एए णरा पसिद्धा तिरिया वि हवंति कुभोयभूमीसु ।
मणुसुत्तरबाहिरेसु अ असंखदीवेसु ते होंति ॥ ५४० ॥

एते नराः प्रसिद्धाः तिर्यञ्चोऽपि भवन्ति कुभोगभूमिषु ॥
मानुषोत्तरबाह्ये च असंख्यद्वीपेषु ते भवन्ति ॥

सव्वे मंदकसाया सव्वे णिस्सेमवाहिपरिहीणा ।
मरिऊण विंतरा वि हु जोइसभवणेसु जायंति ॥ ५४१ ॥

सर्वे मन्दकषायाः सर्वे निःशेषव्याधिपरिहीनाः ।
मृत्वा व्यन्तरेष्वपि हि ज्योतिर्भवनेषु जायन्ते ॥

---

१ पुष्णोदयेन । २ केई स-केचित् ।

तत्थ चुया पुणु संता तिरियणरा पुणु हवंति ते सव्वे ।
काऊण तत्थ पावं पुणो वि णिरयावहा होंति ॥ ५४२ ॥

ततश्च्युताः पुनः सन्तः तिर्यङ्नराः पुनः भवन्ति ते सर्वे ।
कृत्वा तत्र पापं पुनरपि नरकपथा भवन्ति ॥

चंडालभिल्लछिंपियडोंवयकल्लाल एवमाईणि ।
दीसंति रिद्धिपत्ता कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४३ ॥

चण्डालभिल्लछिंपकडोंबकल्लाराः एवमादिकाः ।
दृश्यन्ते ऋद्धिप्राप्ताः कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥

केई पुण गयतुरया गेहे रायाण उण्णई पत्ता ।
दिस्संति मच्चलोए कुच्छियपत्तस्स दाणेण ॥ ५४४

केचित्पुनः गजतुरगा गृहे राज्ञां उन्नतिं प्राप्ताः ।
दृश्यन्ते मर्त्यलोके कुत्सितपात्रस्य दानेन ॥

केई पुण दिवलोए उववण्णा वाहणत्तणेण ते मणुया
सोयंति जायदुक्खा पिच्छिय रिद्धी सुदेवाणं ॥ ५४५

केचित्पुनः स्वर्गलोके उत्पन्ना वाहनत्वेन ते मनुजाः ।
शोचन्ति जातदुःखाः प्रेक्ष्य ऋद्धिं सुदेवानां ॥

णाऊण तस्स दोसं सम्माणह मा कया वि [illegible]
परिहरह सया दूरं कुदिट्ठिणो [illegible] ॥ ५४[illegible]

ज्ञात्वा तस्य दोषं सम्मानयत मा कदापि [illegible] ।
परिहरत सदा दूरं... [illegible] ॥

[illegible]

पत्थरमेया वि दोणी पत्थरमप्पाणयं च बोलेइ ।
जह तह कुच्छियपत्तं संसारे चेव बोलेइ ॥ ५४७ ॥

प्रस्तरमय्यपि द्रोणी प्रस्तरमात्मानं च निमज्जयति ।
यथा तथा कुत्सितपात्रं संसारे एव निमज्जयति ॥

णावा जह सच्छिद्दा परमप्पाणं च उवहिसलिलम्मि ।
बोलेइ तह कुपत्तं संसारमहोवही भीमे ॥ ५४८ ॥

नौर्यथा सच्छिद्रा परमात्मानं चोदधिसलिले ।
निमज्जयति तथा कुपात्रं संसारमहोदधौ भीमे ॥

लोहमए कुतरंडे लग्गो पुरिसो हु तीरिणीवाहे ।
बुड्डइ जह तह बुड्डइ कुपत्तसम्माणओ पुरिसो ॥ ५४९ ॥

लोहमये कुतरण्डे लग्नः पुरुषो हि तीरणीवाहे ।
मज्जति यथा तथा मज्जति कुपात्रसम्मानकः पुरुषः ॥

ण लहंति फलं गरुयं कुच्छियपत्तहुछित्तसेविया पुरिसा ।
जह तह कुच्छियपत्ते दिण्णा दाणा मुणेयव्वा ॥ ५५० ॥

न लभन्ते फलं गुरुकं कुत्सितप्रभुत्क्षुत्समेवकाः पुरुषाः ।
यथा तथा कुत्सितपात्रे दत्तानि दानानि मन्तव्यानि ॥

णत्थि वयसीलसंजमझाणं तवणियमबंभचेरं च ।
एमेव भणइ पत्तं अप्पाणं लोयमज्झम्मि ॥ ५५१ ॥

---

१ गया क. । २ आलुंखिअ आलिद्दं छिवरं छिन्नं परामुसिअं । इत्येते आश्लि-ष्टार्थे । ३ दिण्णं दाणं मुणेयव्वं. ख । ४ अस्मादग्रे गाथैका ग—पुस्तके. ।

कल्लाणगणियधारी दाणमहादाणदाणसंजुत्ता ।

[illegible] धारी ॥ १ ॥

नास्ति व्रतशीलसंयमध्यानं तपोनियमब्रह्मचर्यं च।
एवमेव भणति पात्रं आत्मानं लोकमध्ये॥

मयकोहलोहगहिओ उड्डियहत्थो य जायणासीलो।
गिहवावारासत्तो जो सो पत्तो कहं हवइ॥ ५५२॥

मदक्रोधलोभगृहीत उद्धितहस्तश्च याचनाशीलः।
गृहव्यापारासक्तः यः स पात्रं कथं भवति॥

हिंसाइदोसजुत्तो अट्टरउद्देहिं गमियअहरत्तो।
कयविक्कयवट्टंतो इंदियविसएसु लोहिल्लो॥ ५५३॥

हिंसादिदोषयुक्त आर्तरौद्रैः गमिताहोरात्रः।
क्रयविक्रयवर्तमान इन्द्रियविषयेषु लुब्धः॥

उत्तमपत्तं णिंदिय गुरुठाणे अप्पयं पकुव्वंतो।
होउं पावेण गुरू वुड्डइ पुण कुगइउवहिम्मि॥ ५५४॥

उत्तमपात्रं निन्दित्वा गुरुस्थाने आत्मानं प्रकुर्वन्।
भूत्वा पापेन गुरुः ब्रुडति पुनः कुगत्युदधौ॥

जो बोलइ अप्पाणं संसारमहण्णवम्मि गरुयम्मि।
सो अण्णं कह तारइ तस्साणुमग्गो जणं लग्गं॥ ५५५॥

यः निमज्जयति आत्मानं संसारमहार्णवे गुरुके।
स अन्यं कथं तारयति तस्यानुमार्गे जनं लग्नम्॥

एवं पत्तविसेसं णाऊणं देह दाणमणवरयं।
णियजीवसग्गमोक्खं इच्छयमाणो पयत्तेण॥ ५५६॥

एवं पात्रविशेषं ज्ञात्वा देहि दानमनवरतम्।
निजजीवस्वर्गमोक्षं इच्छन् प्रयत्नेन॥

१ [illegible]

लहिऊण संपया जो देइ ण दाणाइं मोहसंछण्णो ।
सो अप्पाणं अप्पे वंचेइ य णत्थि संदेहो ॥ ५५७ ॥

लब्ध्वा सम्पद् यो ददाति न दानादि मोहसंछन्नः ।
स आत्मानं आत्मना वंचयति च नास्ति सन्देहः ॥

ण य देइ णेयं भुंजइ अत्थं णिखणेइ लोहसंछण्णो ।
सो तणकयपुरिसो इव रक्खइ सस्सं परस्सत्थे ॥ ५५८ ॥

न च ददाति नैव भुंक्तेऽर्थं निक्षिपति लोभसंछन्नः ।
स तृणकृतपुरुष इव रक्षति सस्यं परस्यार्थे ॥

किविणेण संचयधणं ण होइ उवयारियं जहा तस्स ।
महुयरि इव संचियमहु हरंति अण्णे सपाणेहिं ॥ ५५९ ॥

कृपणेन संचितधनं न भवति उपकारकं यथा तस्य ।
मधुकरीव संचितमधु हरन्ति अन्ये सप्राणैः ॥

कस्स थिरा इह लच्छी कस्स थिरं जुव्वणं धणं जीवं ।
इय मुणिऊण सुपुरिसा दिंति सुपत्तेसु दाणाइं ॥ ५६० ॥

कस्य स्थिरेह लक्ष्मीः कस्य स्थिरं यौवनं धनं जीवितं ।
इति ज्ञात्वा सुपुरुषा ददति सुपात्रेषु दानानि ।

दुक्खेण लहइ वित्तं वित्ते लद्धे वि दुल्लहं चित्तं ।
लद्धे चित्ते वित्ते सुदुल्लहो पत्तलंभो य ॥ ५६१ ॥

दुःखेन लभते वित्तं वित्ते लब्धेऽपि दुर्लभं चित्तं ।
लब्धे चित्ते वित्ते सुदुर्लभः पात्रलाभश्च ॥

चित्तं वित्तं पत्तं तिण्णि वि पावेइ कह वि जइ पुरिसो ।
तो ण लहइ अणुकूलं सयणं पुत्तं कलत्तं च ५६२ ॥

---

१ अप्पाणं खि य. स. । २ णय सइ भुंजइ क. । ३ रक्खेइ. स. । ४ जोव्वणं ... ।

चित्तं वित्तं पात्रं त्रीण्यपि प्राप्नोति कथमपि यदि पुण्यः ।
तर्हि न लभतेऽनुकूलं स्वजनं पुत्रं कलत्रं च ॥

पडिकूलमाइ काऊं विग्घं कुव्वंति धम्मदाणस्स ।
उवएसंति दुबुद्धिं दुग्गइगमकारया असुहा ॥ ५६३ ॥

प्रतिकूलमादि कृत्वा विघ्नं कुर्वन्ति धर्मदानस्य ।
उपदिशन्ति दुर्बुद्धिं दुर्गतिगमकारकामशुभां ॥

सो कह सयणो भण्णइ विग्घं जो कुणइ धम्मदाणस्स ।
दाऊण पावबुद्धी पाडइ दुक्खायरे णरए ॥ ५६४ ॥

स कथं स्वजनो भण्यते विघ्नं यः करोति धर्मदानस्य ।
दत्त्वा पापबुद्धिं पातयति दुःखाकरे नरके ॥

सो सयणो सो बंधू सो मित्तो जो सहिज्जओ धम्मे ।
जो धम्मविग्घयारी सो सत्तू णत्थि संदेहो ॥ ५६५ ॥

स स्वजनः स बन्धुः स मित्रं यः सहायकः धर्मे ।
यो धर्मविघ्नकारी स शत्रुः नास्ति सन्देहः ॥

ते धण्णा लोयत्तए तेहिं णिरुद्धाइं कुगइगमणाइं ।
चित्तं पत्तं वित्तं पाविवि जहिं दिण्णदाणाइं ॥ ५६६ ॥

ते धन्या लोकत्रये तैर्निरुद्धानि कुगतिगमनानि ।
चित्तं पात्रं वित्तं प्राप्य यैः दत्तदानानि ॥

मुणि[illegible]ण दव्वं जस्स गयं जुव्वणं च तारुण्णे ।
[illegible] जस्स गयं [illegible] गयं मरण ॥ ५६७ ॥

[illegible] [illegible] ।
[illegible] ॥

जह जह वड्डइ लच्छी तह तह दाणाइं देह पत्तेसु ।
अहवा हीयइ जह जह देह विसेसेण तह तह यं[1] ॥ ५६८ ॥

यथा यथा वर्धते लक्ष्मीः तथा तथा दानानि देहि पात्रेषु ।
अथवा हीयते यथा यथा देहि विशेषेण तथा तथा च ॥

जेहिं ण दिण्णं दाणं ण चावि पुज्जा किया जिणिंदस्स ।
ते हीणदीणदुग्गय भिक्खं ण लहंति जायंता ॥ ५६९ ॥

यैर्न दत्तं दानं न चापि पूजा कृता जिनेन्द्रस्य ।
ते हीनदीनदुर्गता भिक्षां न लभन्ते याचमानाः ॥

परपेसणाइं णिच्चं करंति भत्तीएं तह य णियपेट्टं ।
पूरंति ण णिययघरे परवसगासेण जीवंति ॥ ५७० ॥

परपेषणादिकं नित्यं कुर्वन्ति भक्त्या तथा च निजोदरं ।
पूरयन्ति न निजगृहे परवशग्रासेन जीवन्ति ॥

खंधेण वहंति णरं गामत्थं दीहपंथसमसंता ।
तं चेव विण्णवंता सुहकयकरविणयसंजुत्ता ॥ ५७१ ॥

स्कन्धेन वहन्ति नरं ग्रामार्थं दीर्घपथसमासक्ताः ।
तमेव विज्ञपयन्तः सुखकृतकरविनयसंयुक्ताः ॥

पहु तुम्ह समं जायं कोमलअंगाइं सुट्ठुसुहियाइं ।
इय सुहपियाइं काउं मलंति पाया सहत्थेहिं ॥ ५७२ ॥

प्रभो ! युष्माकं समं जातानि कोमलाङ्गानि सुष्टुसुभगानि ।
इति सुखप्रियाणि कृत्वा संवहन्ते पादान् स्वहस्ताभ्यां ॥

---

१ यंत्रेण धान्यदलनादिकर्म । २ यकारबहुचारणं अस्य ।

रक्खंति गोगवाइं छेलयखरतुरयछेत्तगल्लिहाणं ।
तूंणंति कप्पडाइं घडंति पिडउल्लयाइं च ॥ ५७३ ॥

रक्षन्ति गोगवादिकं अजाखरतुरगक्षेत्रखल्लियानान् ।
तुर्णन्ति कर्पटादिकं घटन्ते पिढेगादिकानि ॥

धावंति सत्यहत्था उण्हं ण गणंति तह य सीयाइं ।
तुरयमुहफेणमित्ता रयलित्ता गलियपासेया ॥ ५७४ ॥

धावन्ति शस्त्रहस्ता उष्णं न गणयन्ति तथा च शीतादि ।
तुरगमुखफेनसिक्ता रजोलिप्ता गलितप्रस्वेदाः ॥

पिच्छिय परमहिलाओ घणथणमयणयणचंदवयणाइं ।
ताडेइ णियं सीसं झूरइ हिययम्मि दीणमुहो ॥ ५७५ ॥

प्रेक्ष्य परमहिलाः घनस्तनमदनयनचन्द्रवदनानि ।
ताडयति निजं शीर्षं झूरयति (रुदति) हृदये दीनमुखः ॥

परसंपया णिएऊं पभणइ हा ! किं मया ण दिण्णाइं ।
दाणाइं पवरपत्ते उत्तमभत्तीय जुत्तेण ॥ ५७६ ॥

परसम्पदः दृष्ट्वा प्रभणति हा किं मया न दत्तानि ।
दानानि प्रवरपात्रे उत्तमभक्त्या युक्तेन ॥

एवं णाऊण फुडं लोहो उवसामिऊण णियचित्ते ।
णियवित्ताणुस्सारं दिज्जह दाणं सुपत्तेसु ॥ ५७७ ॥

एव ज्ञात्वा स्फुटं लोभं उपशम्य निजचित्ते ।
निजवित्तानुसारं देहि दानं सुपात्रेषु ॥

जं उप्पज्जइ दव्वं तं कायव्वं च बुद्धिवंतेणं ।
छहभायगयं सव्वं पढमो भावो हु धम्मस्स ॥ ५७८ ॥

---

१ देश्यशब्दोऽयं । २ चु. ख. । ३ तन्तुवायकर्म कुर्वन्ति । ४ फलकपल्यंककपाटादिकं निर्मापयन्ति । ५ सीय च ख. । ६ ओ ख. । वदना · । ७ दि. ख. । द. ख. ।

यद्रुत्पद्यते द्रव्यं तत्कर्तव्यं च बुद्धिमता।
तद्भागगतं सर्वं प्रथमो भागो हि धर्मस्य ॥

बीओ भाओ गेहे दायव्वो कुडुंबपोसणत्थेण ।
तइओ भाओ भोए चउत्थओ सयणवग्गम्मि ॥ ५७९ ॥

द्वितीयो भागो गृहे दातव्यः कुटुम्बपोषणार्थं ।
तृतीयो भागः भोगे चतुर्थः स्वजनवर्गे ।

सेसा जे वे भावा ठायव्वा होंति ते वि पुरिसेण ।
पुज्जामहिमाकज्जे अहवा कालावकालस्स ॥ ५८०॥

शेषौ यौ द्वौ भागौ स्थापनीयौ भवतः तावपि पुरुषेण ।
पूजामहिमकार्ये अथवा कालापकालाय ॥

अहवा णियं विढत्तं कस्स वि मा देहि होहि लोहिल्लो ।
सो को वि कुणउ वाऊ जह तं दव्वं समं जाइ ॥ ५८१ ॥

अथवा निजं वित्तं[1] कस्यापि मा देहि भव लुब्धः ।
स कमपि कुरु उपायं यथा तद्द्रव्यं समं याति ॥

तं दव्वं जाइ समं जं खीणं पुज्जमहिमदाणेहिं ।
जं पुण धराणिहत्तं णट्ठं तं जाणि णियमेण ॥ ५८२ ॥

तद्द्रव्यं याति समं यत्क्षीणं पूजामहिमदानैः ।
यत्पुनः धरानिहितं नष्टं तज्जानीहि नियमेन ॥

सई ठाणाओ भुल्लइ अहवा मूसेहि णिज्जए तं पि ।
अह भाओ अह पुत्तो चोरो तं लेइ अह राओ ॥ ५८३ ॥

स्वयं स्थानं विस्मरति अथवा मूषकैः नीयते तदपि ।
अथ भ्राता अथ पुत्रः चोरस्तत् गृह्णाति अथ राजा ॥

---

१ सभीए क. । २ पूजार्थमित्यर्थः ।

अहवा तरुणी महिला जायइ अण्णेण जारपुरिसेण ।
सह तं गिण्हिय दव्वं अण्णं देसंतरं दुट्ठा ॥ ५८४ ॥

अथवा तरुणी महिला याति अन्येन जारपुरुषेण ।
सह तद्गृहीत्वा द्रव्यं अन्यदेशान्तरं दुष्टा ॥

इय जाणिऊण णूणं देह सुपत्तेसु चउविहं दाणं ।
जह कयपावेण सया मुच्चह लिप्पह सुपुण्णेण ॥ ५८५ ॥

इति ज्ञात्वा नूनं देहि सुपात्रेषु चतुर्विधं दानं ।
यथा कृतपापेन सदा मुच्येत लिप्येत सुपुण्येन ॥

पुण्णेण कुलं विउलं कित्ती पुण्णेण भमइ तइलोए ।
पुण्णेण रूवमतुलं सोहग्गं जोवणं तेयं ॥ ५८६ ॥

पुण्येन कुलं विपुलं कीर्तिः पुण्येन भ्रमति त्रिलोके ।
पुण्येन रूपमतुलं सौभाग्यं यौवनं तेजः ॥

पुण्णवलेणुववज्जइ कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु ।
भुंजेइ तत्थ भोए दहकप्पतरूभवे दिव्वे ॥ ५८७ ॥

पुण्यबलेनोत्पद्यते कथमपि पुरुषश्च भोगभूमिषु ।
भुंक्ते तत्र भोगान् दशकल्पतरूद्भवान् दिव्यान् ॥

गिहतरुवर वरगेहे भोयणरुक्खा य भोयणे सरिसे ।
कणयमयभायणाणि य भायणरुक्खा पयच्छंति ॥ ५८८ ॥

गृहतरुवरा वरगृहाणि भोजनवृक्षाश्च भोजनानि सरसानि ।
कनकमयभाजनानि च भाजनवृक्षाः प्रयच्छन्ति ॥

वत्थंगा वरवत्थे कुसुमंगा दिंति कुसुममालाओ ।
दिंति सुयंधविलेवण विलेवणंगा महारम्मा ॥ ५८९ ॥

वस्त्राङ्गा वरवस्त्राणि कुसुमाङ्गा ददति कुसुममाला ।
ददति सुगन्धविलेपनं विलेपनाङ्गा महावृक्षा ॥

तूरंगा वरतूरे भज्जंगा दिंति मज्जमज्जाइं ।
आहरणंगा दिंति य आहरणे कणयमणिजडिए ॥ ५९० ॥

तूर्याङ्गा वरतूर्याणि मद्याङ्गा ददति मद्यमद्यानि ।
आभरणाङ्गा ददति च आभरणानि कनकमणिजटितानि ॥

रयणिदिणं ससिसूरा जह तह दीवंति जोइसारुक्खा ।
पायव दसप्पयारा चिंतियमं दिंति मणुयाणं ॥ ५९१ ॥

रजनीदिनयोः शशिसूरा यथा तथा दीपन्ति ज्योतिर्वृक्षा ।
पादपा दशप्रकारा चिन्तितं ददति मनुष्येभ्यः ॥

जरमो य वाहिवेअणकासं सासं च जिंभणं छिक्का ।
एए अण्णे दोसा ण हवंति हु भोयभूमीसु ॥ ५९२ ॥

जरा च व्याधिवेदनाकासं श्वसनं जृम्भणं क्षुतं ।
एते अन्ये दोषा न भवन्ति हि भोगभूमिषु ॥

सव्वे भोए दिव्वे भुंजित्ता आउसावसाणम्मि ।
सम्मादिट्ठीमणुया कप्पावासेसु जायंति ॥ ५९३ ॥

सर्वान् भोगान् दिव्यान् भुक्त्वा आयुरवसाने ।
सम्यग्दृष्टिमनुजाः कल्पवासिषु जायन्ते ॥

जे पुणु मिच्छादिट्ठी विंतरभवणे सुजोइसा होंति ।
जम्हा मंदकसाया तम्हा देवेसु जायंति ॥ ५९४ ॥

ये पुनर्मिथ्यादृष्टयः व्यन्तरभावनाः सुज्योतिष्का भवन्ति ।
यस्मान्मन्दकषाया तस्माद्देवेषु जायन्ते ॥

---

१ पानाङ्गाः ।

केई समसरणगया जोइसभवणे सुविंतरा देवा ।
गहिऊणं सम्मदंसण तत्थ चुया हुंति वरपुरिसा ॥ ५९५ ॥
केचित्समवशरणगता ज्योतिष्कभावना व्यन्तरा देवाः ।
गृहीत्वा सम्यग्दर्शनं ततश्च्युता भवन्ति वरपुरुषाः ॥

लहिऊण देससंजम सयलं वा होइ सुरोत्तमो सग्गे ।
भोत्तूण सुहे रम्मे पुणो वि अवयरइ मणुयत्ते ॥ ५९६ ॥
लब्ध्वा देशसंयमं सकलं वा भवति सुरोत्तमः स्वर्गे ।
भुक्त्वा शुभान् रम्यान् पुनरपि अवतरति मनुजत्वे ॥

तत्थ वि सुहाइं भुत्तं दिक्खा गहिऊण भविय णिग्गंथो ।
सुक्कज्झाणं पाविय कम्मं हणिऊण सिज्झेइ ॥ ५९७ ॥
तत्रापि शुभानि भुक्त्वा दीक्षां गृहीत्वा भूत्वा निर्ग्रन्थः ।
शुक्लध्याने प्राप्य कर्म हत्वा सिद्ध्यति ॥

सिद्धं सरूवरूवं कम्मरहियं च होइ झाणेण ।
सिद्धासामी य जगे ण हवइ संसारिओ जीवो ॥ ५९८ ॥
सिद्धं स्वरूपरूपं कर्मरहितं च भवति ध्यानेन ।
सिद्धस्वामी च जगे न भवति संसारी जीवः ॥

पंचमयं गुणठाणं एवं कहियं मया समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं पमत्तविरयं तु छट्ठमयं ॥ ५९९ ॥
पञ्चमं गुणस्थानमेवं कथितं मया समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्ये प्रमत्तविरतं तु षष्ठमम् ॥

इति देशव्रतगुणस्थानं समाप्तम् ।

[illegible] ।

[illegible] ॥

जइसए गुणठाणे वट्टंतो परिहरेइ आवासं ।
जो णाइ सो ण मुणइ परमावसयाणसंदेहं ॥ ६०६ ॥

सप्तमे गुणस्थाने वर्तमानः परिहरति आवश्यकानि ।
स मूढः स न जानाति परमावश्यकसंदेहं ॥

अहव मुणंतो होइ आवासयाइं गुणठाइं ।
सो तेण होइ मूढो गुणागमो जिणवरिंदस्स ॥ ६०७ ॥

अथवा जानन् भवति सर्वावश्यकानि गुणस्थानानि ।
तर्हि तेन भवति मूढः स्वागमो जिनवरेन्द्रस्य ॥

आवसयाए चत्तो परमप्पा होइ तेण पुरिसेण ।
परमप्पयचाएण य मिच्छत्तं पोसियं होइ ॥ ६०८ ॥

आवश्यकेन त्यक्तः परमात्मा भवति तेन पुरुषेण ।
परमात्मत्यागेन मिथ्यात्वं पोषितं भवति ॥

एवं णाऊण मया जाम ण पावेहि णिच्चलं झाणं ।
मणसंकप्पविमुक्कं तावावसयं कुणह वयसहियं ॥ ६०९ ॥

एवं ज्ञात्वा सदा यावन्न प्राप्नोति निश्चलं ध्यानं ।
मनःसंकल्पविमुक्तं तावदावश्यकं कुर्यात् व्रतसहितं ॥

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाणपूजाइं ।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ ६१० ॥

आवश्यकादि कर्म वैयावृत्यं च दानपूजादि ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिस्तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥

---

१ या ख. ।

जस्स ण णहगामित्तं पायविलेओ ण ओसहीलित्तो ।
णो णावाइ समुद्दं तारेइ किमिन्दभणिएण ॥ ६११ ॥

यस्य न नभोगामित्वं पादविलेपो न औषधिलेप ।
न नौरिव ' समुद्रं तारयति किमिन्द्रभणितेन ॥

जा संकप्पो चित्ते सुहासुहो भोयणाइकिरियाओ ।
ता कुणउ सो वि किरियं पडिकमणाईं य णिस्सेसं ॥६१२॥

यावत्संकल्पश्चित्ते शुभाशुभः भोजनादिक्रियात. ।
तावत्करोतु तामपि क्रियां प्रतिक्रमणादिकां च निःशेषां ॥

एसो पमत्तविरओ साहु मए कहिउ समासेण ।
एत्तो उड्ढं वोच्छं अप्पमत्तो णिसामेह ॥ ६१३ ॥

एष प्रमत्तविरतः साधु मया कथितः समासेन ।
इत ऊर्ध्वं वक्ष्येऽप्रमत्तं निशाम्यत ॥

इति प्रमत्तगुणस्थानं षष्ठम् ।

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहिं मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो।६१४।

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलैर्मंडितो ज्ञानी ।
अनुपशमकोऽक्षपको ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः सः ॥

पुव्वुत्ता जे भावा हवंति तिण्णेव तत्थ णायव्वा ।
मुक्खं धम्मज्झाणं हवेइ णियमेण इत्थेव ॥ ६१५ ॥

पूर्वोक्ता ये भावा भवन्ति त्रय एव तत्र ज्ञातव्याः ।
मुख्यं धर्म्यध्यानं भवेत् नियमेन अत्रैव ॥

---

१ वणगणावाइं क. सावइ ख. । २ प्राकृतपंचसंग्रहेऽपीयं गाथा वर्तते ।

झायारो पुण झाणं झेयं तह हवइ फलं च तम्मेव ।
एए चउअहियारा णायव्वा होंति णियमेण ॥ ६१६ ॥

ध्याता पुनर्ध्यानं ध्येयं तथा भवति फलं च तस्यैव ।
एते चतुरधिकारा ज्ञातव्या भवन्ति नियमेन ॥

आहारासणणिद्दा विजओ तह इंदियाण पंचण्हं ।
बावीसपरिसहाणं[1] कोहाईणं कसायाणं ॥ ६१७ ॥

आहारासननिद्राणां विजयस्तथा इन्द्रियाणां पञ्चानां ।
द्वाविंशतिपरीषहानां क्रोधादीनां कषायाणां ॥

णिस्संगो णिम्मोहो णिग्गयवावारकरणमुत्तड्ढो ।
दिढकाओ थिरचित्तो एरिसओ होइ झायारो ॥ ६१८ ॥[2]

निःसंगो निर्मोहो निर्गतव्यापारकरणमूत्राढ्य ।
दृढकाय. स्थिरचित्त एतादृशो भवति ध्याता ॥

ध्याता[3] ।

चित्तणिरोहे झाणं चउविहभेयं च तं मुणेयव्वं ।
पिंडत्थं च पयत्थं रूवत्थं रूववज्जियं चेव ॥ ६१९ ॥

चित्तनिरोधे ध्यानं चतुर्विधभेदं च तन्मन्तव्यं ।
पिण्डस्थं च पदस्थं रूपस्थं रूपवर्जितं चैव ॥

पिंडो वुचइ देहो तस्स मज्झट्ठिओ हु णियअप्पा ।
झाइज्जइ अइसुद्धो विप्फुरिओ सेयकिरणड्ढो ॥ ६२० ॥

पिण्ड उच्यते देहस्तस्य मध्यस्थितो हि निजात्मा ।
ध्यायते अतिशुद्धो विस्फुरित· सितकिरणाढ्य ॥

---

१ परीसह स. । २ इदं गाथासूत्रं क–पुस्तके नास्ति, प्रकरणानुसारित्वात्-समाप्यत्वादत्र ख–पुस्तकात् समायोजितं । ३ पाठोऽयं क–पुस्तके नास्ति ।

देहत्थो झाइज्जइ देहस्संबंधविरहिओ णिच्चं।
णिम्मलतेय फुरंतो गयणयले सूरबिंबेव ॥ ६२१ ॥
देहस्थो ध्यायते देहसम्बन्धविरहितो नित्यं।
निर्मलतेजस्कः स्फुरन् गगनतले सूर्यबिम्ब इव ॥
जीवपएसप्पचयं पुरिसायारं हि णियदेहत्थं।
अमलगुणं झायंतं झाणं पिंडत्थअहिहाणं ॥ ६२२ ॥
जीवप्रदेशप्रचयं पुरुषाकारं हि निजदेहस्थं।
अमलगुणं ध्यायन् ध्यानं पिण्डस्थाभिधानं ॥

पिंडस्थम्।

जारिसओ देहत्थो झाइज्जइ देहबाहिरे तह य।
अप्पा सुद्धसहावो तं रूवत्थं फुडं झाणं ॥ ६२३ ॥
यादृशो देहस्थो ध्यायते देहबाह्ये तथा च।
आत्मा शुद्धस्वभावस्तद्रूपस्थं स्फुटं ध्यानं ॥
रूवत्थं पुण दुविहं सगयं तह परगयं च णायव्वं।
तं परगयं भणिज्जइ झाइज्जइ जत्थ पंचपरमेट्ठी ॥ ६२४ ॥
रूपस्थं पुनः द्विविधं स्वगतं तथा परगतं च ज्ञातव्यं।
तत्परगतं भण्यते ध्यायते यत्र पंचपरमेष्ठी ॥
सगयं तं रूवत्थं झाइज्जइ जत्थ अप्पणो अप्पा।
णियदेहस्स बहित्थो फुरंतरवितेयसंकासो ॥ ६२५ ॥
स्वगतं तु रूपस्थं ध्यायते यत्र आत्मना आत्मा।
निजदेहाद्बहिस्थः स्फुरद्रवितेजःसंकाशः ॥

---

१ ध्यायमीति क्रियाध्याहारः। २ गाथेयं क-पुस्तके नास्ति।

रूपस्थम्।

देवच्चणाविहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणिंदेहिं ॥ ६२६ ॥

देवार्चनाविधानं यत्कथितं देशविरतस्थाने।
भवति पदस्थं ध्यानं कथितं तद्वरजिनेन्द्रैः ॥

एयपयमक्खरं वा जवियइ जं पंचगुरुसंबंधं।
तं पि य होइ पयत्थं झाणं कम्माण णिद्दहणं ॥ ६२७ ॥

एकपदमक्षरं वा जप्यते यत्पंचगुरुसम्बन्धं।
तदपि च भवति पदस्थं ध्यानं कर्मणां निर्दहनं ॥

पदस्थम्।

ण य चिंतइ देहत्थं देहबहित्थं ण चिंतए किं पि।
ण सगयपरगयरूवं तं गयरूवं णिरालंबं ॥ ६२८ ॥

न च चिन्तयति देहस्थं देहबाह्यस्थं न चिन्तयेत्किमपि।
न स्वगतपरगतरूपं तद्गतरूपं निरालम्बं ॥

जत्थ ण करणं चिंता अक्खररूवं ण धारणा धेयं।
ण य वावारो कोई चित्तस्स य तं णिरालंबं ॥ ६२९ ॥

यत्र न करणं चिन्ता अक्षररूपं न धारणा ध्येयं।
न च व्यापारः कश्चिच्चित्तस्य च तन्निरालम्बं ॥

इंदियविसयवियारा जत्थ खयं जंति रायदोसा य।
मणवावारा सव्वे तं गयरूवं मुणेयव्वं ॥ ६३० ॥

१-२ क–पुस्तके नास्ति।

इन्द्रियविषयविकारा यत्र क्षयं यान्ति रागद्वेषौ च ।
मनोव्यापाराः सर्वे तद्गतरूपं ज्ञातव्यं ॥

गतरूपं, इति ध्येयम् ।

झेयं तिविहपयारं अक्खर-रूवं तह अरूवं च ।
रूवं परमेट्ठिगयं अक्खरयं णेमिसुयारं ॥ ६३१ ॥

ध्येयं त्रिविधप्रकारं अक्षर-रूपं तथाऽरूपं च ।
रूपं परमेष्ठिगतं अक्षरकं तेषामुच्चारणं ॥

गयरूवं जं झेयं जिणेहि भणियं पि तं णिरालंबं ।
सुण्णं पि तं ण सुण्णं जम्हा रयणत्तयाइण्णं ॥ ६३२ ॥

गतरूपं यद्ध्येयं जिनैर्भणितमपि तन्निरालंबं ।
शून्यमपि तन्न शून्यं यस्माद्रत्नत्रयाकीर्णं ॥

[2]ध्येयम् ।

झाणस्स फलं तिविहं कहंति वरजोइणो विगयमोहा ।
इहभवपरलोयभवं सव्वंकम्मक्खए तइयं ॥ ६३३ ॥

ध्यानस्य फलं त्रिविधं कथयन्ति वरयोगिनो विगतमोहाः ।
इहभवपरलोकभवं सर्वकर्मक्षये तृतीयं ॥

झाणस्स य सत्तीए जायंति अईसयाणि विविहाणि ।
दूरालोयणपहुई झाणे आएसकरणं च ॥ ६३४ ॥

ध्यानस्य च शक्त्या जायन्ते अतिशयानि विविधानि ।
दूरालोकनप्रभृतीनि ध्याने आदेशकरणं च ॥

---

१ क-पुस्तके नास्ति । २ पुस्तकद्वयेऽपि नास्ति ।

एदम्मि गुणट्ठाणे अत्थि आवासयाण परीहारो[1] ।
झाणंमज्झम्मि थिरत्तं[2] णिरंतरं अत्थि[3] तं जम्हा ॥ ६४० ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने अस्ति आवश्यकानां परिहारः ।
ध्यानमध्ये स्थिरत्वं निरन्तरं अस्ति तद्यस्मात् ॥

सत्तमयं गुणठाणं कहियं अपमत्तणामसंजुत्तं ।
एत्तो अपुव्वणामं वुच्छामि जहाणुपुव्वीए ॥ ६४१ ॥

सप्तमकं गुणस्थानं कथितं अप्रमत्तनामसंयुक्तं ।
इतोऽपूर्वनाम वक्ष्यामि यथानुपूर्व्या ॥

इत्यप्रमत्तगुणस्थानं सप्तमम् ।

तं दुब्भेयपउत्तं खवयं उवसामियं च णायव्वं ।
खवए खवओ भावो उवसमए होइ उवसमओ ॥ ६४२ ॥

तद्द्विभेदप्रोक्तं क्षपकमुपशमकं च ज्ञातव्यं ।
क्षपके क्षायको भाव उपशमके भवति उपशमकः ॥

खवएसु उवसमेसु य अउव्वणामेसु हवइ तिपयारं ।
सुक्कज्झाणं णियमा पुहुत्तसवियक्कसवियारं[4] ॥ ६४३ ॥

---

१ अत्थि य आवासयाण. क. । २ झाणम्मि अइथिरत्तं ख. । ३ णत्थि. ख ।
४ अस्मादग्रेऽयं पाठः म-पुस्तके। उक्तं च--

श्रुतं चिन्ता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मत. ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकं ॥ १ ॥

तद्यथा—

द्रव्याद्द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ॥
पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ २ ॥
स्वशुद्धात्मानुभूत्यात्मा भावश्रुतावलम्बनात् ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्यस्मिंस्तु सवितर्कजं ॥ ३ ॥
अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥ ४ ॥

अर्थेषु उत्पादेषु व्यञ्जनेषु भवति विचारः ।
शुक्लध्याने निवृत्तम् पृथक्त्ववितर्कसवीचारं ॥

पज्जायं च गुणं वा जम्हा दव्वाण मुणइ भेएण ।
तम्हा पुहुत्तणामं भणियं झाणं मुणिंदेहिं[1] ॥ ६४४ ॥

पर्यायं च गुणं वा यस्मात् द्रव्याणां जानाति भेदेन ।
तस्मात्पृथक्त्वनाम भणितं ध्यानं मुनीन्द्रैः ॥

भणियं सुयं वियक्कं वट्टइ सह तेण तं सु अणवरयं ।
तम्हा तस्स वियक्कं सवियारं पुण भणिस्सामो ॥ ६४५ ॥

भणितं श्रुतं वितर्कं वर्तते सह तेन तत्तु अनवरतं ।
तस्मात्तस्य वितर्कं सवीचारं पुनर्भणिष्यामः ॥

जोएहिं तीहिं वियरइ अक्खरअत्थेसु तेण सवियारं ।
पढमं सुक्कज्झाणं अतिक्खपरसोवमं भणियं ॥ ६४६ ॥

योगैः त्रिभिः विचरति अक्षरार्थेषु तेन सविचारं ।
प्रथमं शुक्लध्यानं अतीक्ष्णपरशूपमं भणितं ॥

जह चिरकालो लग्गइ अतिक्खपरसेण रुक्खविच्छेए[2] ।
तह कम्माण य हणणे चिरकालो पढमसुक्कम्मि ॥६४७॥

यथा चिरकालो लगति अतीक्ष्णपरशुना वृक्षविच्छेदे ।
तथा कर्मणां च हनने चिरकालः प्रथमशुक्ले ॥

---

१ अस्मादग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके । सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनो पर्यायाः, आत्मद्रव्ये ज्ञानदर्शनादयो गुणा नरनारकादयो भवपर्यायाः उक्तं च—

सहभूता गुणा ज्ञेयाः सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभूतास्तु पर्याया जीवे गत्यादयो यथा ॥ १ ॥

२ पुस्तकद्वयेऽपि 'विच्छेओ' इति पाठः ।

खएण उवसमेण य कम्माणं जं अउव्वपरिणामो ।
तम्हा तं गुणठाणं अउव्वणामं तु तं भणियं ॥ ६४८ ॥

क्षपणोपशमेन च कर्मणां यदपूर्वपरिणामः ।
तस्मात्तद्गुणस्थानं अपूर्वनाम तु तद्भणितं ॥

इत्यपूर्वनामगुणस्थानमष्टमम् ।

जह तं अउव्वणामं अणियट्टी तह य होइ णायव्वं ।
उवसमखाइयभावं हवेइ फुडु तम्हि ठाणम्मि ॥ ६४९ ॥

यथा तदपूर्वनाम अनिवृत्ति तथा च भवति ज्ञातव्यं ।
औपशमिकक्षायिकभावो भवतः स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥

सुक्कं तत्थ पउत्तं जिणेहिं पुव्वुत्तलक्खणं झाणं ।
णत्थि णियत्ती पुणरवि जम्हा अणियट्टि तं तम्हा ॥६५०॥

शुक्लं तत्र प्रोक्तं जिनैः पूर्वोक्तलक्षणं ध्यानं ।
नास्ति निवृत्तिः पुनरपि यस्मात् अनिवृत्ति तत्तस्मात् ॥

हुंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जस्स एकपरिणामं ।
विमलयरझाणहुअवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्मवणा ॥६५१॥

भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषां एकपरिणामः ।
विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिः निर्दग्धकर्मवनाः ॥

इत्यनिवृत्तिगुणस्थानं नवमम् ।

---

१ खएणेति पुस्तकद्वये २ कहियं. ख. । ३ हवंति क. । ४ गोम्मटसारेऽपीयं गाथा । ५ अस्मि ख. 'असि' अन्यत्र । ६ मो ।

जह अणियट्टि पउत्तं खाइयउवसममियमेट्टिसंजुत्तं ।
तह सुहुमसंपरायं दुब्भेयं होइ जिणकहियं ॥ ६५२ ॥

यथाऽनिवृत्ति प्रोक्तं क्षायिकौपशमिकश्रेणिसंयुक्तं ।
तथा सूक्ष्मसाम्परायं द्विभेदं भवति जिनकथितं ॥

तत्थेव हि दो भावा झाणं पुण तिविहमेय तं सुक्कं ।
लोहकसाए सेसे ससलत्तं होइ चित्तस्स ॥ ६५३ ॥

तत्रैव हि द्वौ भावौ ध्यानं पुन त्रिविधभेदं तच्छुक्लं ।
लोभकषाये शेषे सकलत्वं भवति चित्तस्य ॥

जहं कोसुंभयवत्थं होइ सया सुहुमरायसंजुत्तं ।
एवं सुहुमकसाओ सुहुमसरागोत्ति णिद्दिट्ठो ॥ ६५४ ॥

यथा कौसुम्भ वस्त्रं भवति सदा सूक्ष्मरागसंयुक्तं ।
एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति निर्दिष्टः ॥

इति सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थानं दशमम् ।

जो उवसमइ कसाए मोहस्संबंधिपयडिवूहं च ।
उवसामओत्ति भणिओ खवओ णामं ण सो लहइ ॥६५५॥

य उपशाम्यति कषायान् मोहस्य सम्बन्धिप्रकृतिव्यूहं च ।
उपशामक इति भणितः क्षपक नाम न लभते ॥

सुक्कज्झाणं पढमं भाओ पुण तत्थ उवसमो भणिओ ।
मोहोदयाउ कोई पडिऊण य जाइ मिच्छत्तं ॥ ६५६ ॥

शुक्लध्यानं प्रथमं भावः पुन तत्रोपशम भणितः ।
मोहोदयात् कश्चित् प्रतिपत्य च याति मिथ्यात्वं ॥

---

१ मिच्छत्तं ख. । २ प्राकृतपंचसंग्रहेऽपीयं गाथा । तत्र 'धुदकोसुंभयवत्थं' इति पाठः ।

कोई पमायरहियं ठाणं आसिज्ज पुण वि आरुहइ।
चरमसरीरो जीवो खवयसेढीं च खवहणणे ॥ ६५७ ॥

कश्चित्प्रमादरहितं स्थानमाश्रित्य पुनरप्यारोहयति।
चरमशरीरो जीवः क्षपकश्रेणिं च रजोहनने ॥

कालं काउं कोई तत्थ य उवसामगे गुणट्ठाणे।
सुकज्झाणं झाइय उववज्जइ सव्वसिद्धीए ॥ ६५८ ॥

कालं कृत्वा कश्चित्तत्रोपशामके गुणस्थाने।
शुक्लध्यानं ध्यात्वोत्पद्यते सर्वार्थसिद्धौ ॥

हेट्ठट्ठिओ हु चेट्ठइ पंको सरपाणियम्मि जह सरई।
तह मोहो तम्मि गुणे हेउं लहिऊण उल्लसइ ॥ ६५९ ॥

अधःस्थितो हि चेष्टते पंकः सरःपानीये यथा शरदि।
तथा मोहस्तस्मिन् गुणे हेतुं लब्ध्वा उद्गच्छति ॥

जो खवयसेढिरूढो ण होइ उवसामिओत्ति सो जीवो।
मोहक्खयं कुणंतो उत्तो खवओ जिणिंदेहिं ॥ ६६० ॥

यः क्षपकश्रेण्यारूढो न भवति उपशामक इति स जीवः।
मोहक्षयं कुर्वन् उक्तः क्षपको जिनेन्द्रैः ॥

इत्युपशान्तगुणस्थानमेकादशम्।

णिस्सेसमोहखीणे खीणकसायं तु णामगुणठाणं।
पावइ जीवो णूणं खाइयभावेण संजुत्तो ॥ ६६१ ॥

निःशेषमोहक्षीणे क्षीणकषायं तु नाम गुणस्थानं।
प्राप्नोति जीवो नूनं क्षायिकभावेन संयुक्तः ॥

---

१ मायइ क. ख.। २ ए. ख.। ३ समुल्लसइ ख।

जह गुडकणियाणाणि णिरे खीरे ण णिस्सरई गुडे ।
तह णिम्मलपरिणामो णिक्कसाओ मुणेयव्वो ॥ ६६२ ॥

यथा गुडखण्डिकाया नीरे क्षीरे न निःसरति गुडं ।
तथा निर्मलपरिणामो निष्कषायो मन्तव्यः ॥

सुक्कज्झाणं बीयं भणियं एयत्तवियक्कअवियारं ।
मोणिक्कणिरुद्धमणो[1] अच्छइ जहिं खीण मंदिरो ॥ ६६३ ॥

शुक्लध्याने द्वितीये भणितं एकत्ववितर्कावीचारं ।
मौनैकनिरुद्धमना आस्ते यत्र क्षीणमोहः ॥

होऊण खीणमोहो हणिऊण य मोहविडविविन्थारं ।
घाइतियं च घाइय दुसमयसमएण झाणेणं[2] ॥ ६६४ ॥[3]

भूत्वा क्षीणमोहो हत्वा च मोहविटपिविस्तारं ।
घातित्रिकं च घातयित्वा द्विसमयसमयेन ध्यानेन ॥

घाइचउक्कविणासे उप्पज्जइ सयलविमलकेवलयं ।
लोयालोयपयासं णाणं णिरुवद्दवं णिच्चं ॥ ६६५ ॥

---

१ मोणिक्कणिरुद्ध अवस ख । २ झाणेसु. ख. । ३ अस्मात्पूर्वं 'उक्तं च' पाठः ख-पुस्तके ।

> अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितं ।
> सध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानं द्वितीयकं ॥ १ ॥

तद्यथा—

> निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणं ।
> निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
> यद्द्रव्यगुणपर्यायपरावर्तविवर्जितं ।
> चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥ ३ ॥
> निजशुद्धात्मनिष्ठत्वाद्भावश्रुतावलम्बनात् ।
> चिंतनं क्रियते यत्र सवितर्कं तदुच्यते ॥ ४ ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥

इंदादिदिया किरिया पूया वि गओ वि गाहरा सम्म ।
कुव्वं महाराजाणं कमकमलाराहियं णाणं ॥ ६७१ ॥

[illegible] ।

[illegible] ।

णाणेण तेण जाणइ कालत्तयवट्टिए तिहुयणत्थे ।
सव्वे समे य विसमे सपज्जयाणेयगे सव्वे ॥ ६७२ ॥

ज्ञानेन तेन जानाति कालत्रयवर्तमानान् त्रिभुवनस्थान् ।
सर्वान् समान् विषमान् सपर्ययानेकगुणान् सर्वान् ।

एक्कं एक्कम्मि खणे अणंतपज्जायगुणसमाइण्णं ।
जाणइ जह तह जाणइ सव्वाइं दव्वाइं समयम्मि ॥६७३॥

एकमेकस्मिन् क्षणे अनन्तपर्ययगुणसमाकीर्णम् ।
जानाति यथा तथा जानाति सर्वाणि द्रव्याणि समये ।

जाणंतो पिच्छंतो कालत्तयवट्टियाइं दव्वाइं ।
उत्तो सो सव्वण्हू परमप्पा परमजोईहिं ॥ ६७४ ॥

जानन् पश्यन् कालत्रयवर्तमानानि द्रव्याणि ।
उक्तः स सर्वज्ञः परमात्मा परमयोगिभिः ।

तित्थयरत्तं पत्ता जे ते पावंति समवसरणाइं ।
सक्केण कयविहूई पंचक्कल्लाणपुज्जा य ॥ ६७५ ॥

तीर्थकरत्वं प्राप्ता ये ते प्राप्नुवन्ति समवसरणादिकं ।
शक्रेण कृतविभूतिं पंचकल्याणपूजां च ।

---

१ जाणइ पस्सइ अह तह ख । २ सव्वाइं क ।

समुग्घाईकिरिया णाणं तह दंसणं य सुक्कं च ।
सव्वेसिं सामण्णं अरहंताणं च इयराणं ॥ ६७६ ॥

समुद्घातक्रिया ज्ञानं तथा दर्शनं च शुक्लं च ।
सर्वेषां समानं अर्हतां चेतरेषां च ॥

जेसिं आउसमाणं णामं गोदं च वेयणीयं च ।
ते अकयसमुग्घाया सेसा य कयंति समुग्घायं ॥ ६७७ ॥

येषां आयुः समानं नाम गोत्रं च वेदनीयं च ।
ते अकृतसमुद्घाताः शेषाश्च कुर्वन्ति समुद्घातं ॥

अंतरमुहुत्तकालो हवइ जहण्णो वि उत्तमो तेसिं ।
गयवरिसूणा कोडी पुव्वाणं हवइ णियमेण ॥ ६७८ ॥

अन्तर्मुहूर्तकालो भवति जघन्योऽपि उत्तमः तेषां ।
गतवर्षोना कोटिः पूर्वाणां भवति नियमेन ॥

इति सयोगकेवलिगुणस्थानं त्रयोदशम् ।

पच्छा अजोइकेवलि हवइ जिणो अघाइकम्म हणमाणो ।
लहुपंचक्खरकालो हवइ फुडं तम्मि गुणठाणे ॥ ६७९ ॥

पश्चादयोगकेवली भवति जिनः अघातिकर्मणां हन्ता ।
लघुपंचाक्षरकालो भवति स्फुटं तस्मिन् गुणस्थाने ॥

परमोरालियकायं सिढिलं होऊण गलइ तक्काले ।
थक्कइ सुद्धसहावो घणणिविडपएसपरमप्पा ॥ ६८० ॥

परमौदारिककायः शिथिलो भूत्वा गलति तत्काले ।
तिष्ठति शुद्धस्वभावः घननिविडप्रदेशपरमात्मा ॥

---

१ अर्हच्छब्दोऽयं तीर्थंकरत्ववाची ।

णट्ठाकिरियपवित्ती सुक्कज्झाणं च तत्थ णिद्दिट्ठं ।
खाइयभावो सुद्धो णिरंजणो वीयराओ य ॥ ६८१ ॥

नष्टक्रियाप्रवृत्तिः शुक्लध्यानं च तत्र निर्दिष्टं ।
क्षायिको भावः शुद्धो निरंजनो वीतरागश्च ॥

झाणं सजोइकेवलि जह तह अजोइस्स णत्थि परमत्थें ।
उवयारेण पउत्तं भूयत्थणयविवक्खाए ॥ ६८२ ॥

ध्यानं सयोगकेवलिनो यथा तथाऽयोगिनः नास्ति परमार्थेन ।
उपचारेण प्रोक्तं भूतार्थनयविवक्षया ॥

झाणं तह झायारो झेयवियप्पा य होंति मणसहिए ।
तं णत्थि केवलिदुगे तह्मा झाणं ण संभवइ ॥ ६८३ ॥

ध्यानं तथा ध्याता ध्येयविकल्पाश्च भवन्ति मनःसहिते ।
तन्नास्ति केवलिद्विके तस्माद्ध्यानं न संभवति ॥

मणसहियाणं झाणं मणो वि कम्मइयकायजोयाओ ।
तत्थ वियप्पो जायइ सुहासुहो कम्मउदएण ॥ ६८४ ॥

मनःसहितानां ध्यानं मनोऽपि कार्मणकाययोगात् ।
तत्र विकल्पो जायते शुभाशुभो कर्मोदयेन ॥

असुहे असुहं झाणं सुहझाणं होइ सुहपओगेण ।
सुद्धे सुद्धं कहियं सामयाणामयं दुविहं ॥ ६८५ ॥

अशुभेऽशुभं ध्यानं शुभध्यानं भवति शुभोपयोगेन ।
शुद्धे शुद्धं कथितं सास्रवानास्रवं द्विविधं ॥

पटमं बीयं तइयं सासवयं होइ इय जिणो भणइ ।
विगयासवं चउत्थं झाणं कहियं समासेण ॥ ६८६ ॥

प्रथमं द्वितीयं तृतीयं सास्रवं भवति एवं जिनो भणति ।
विगतास्रवं चतुर्थं ध्यानं कथितं समासेन ॥

[illegible] होइ विगुणो ।
उड्ढं गमणसहावो समणुण्णिवेसेण पावेइ ॥ ६८७ ॥

[illegible] भवति विगुण ।
ऊर्ध्वं गमनस्वभावः [illegible] प्राप्नोति ।

लोयग्गसिहरसरिसं आयं तणुपवणउवरिमं भायं ।
गच्छइ णाम अयवक्को धम्मत्थिवेण आयासो ॥ ६८८ ॥

लोकशिखराग्रेण [illegible] तनुपवनोपरिम भागं ।
गच्छति तावत् अस्ति धर्मास्तिकेन आकाशः ।

तत्तो परं ण गच्छइ अच्छइ काले तु अंतपरिहीणं ।
जह्मा अलोयविसये धम्मद्दव्वं ण तं अत्थि ॥ ६८९ ॥

ततः परं न गच्छति तिष्ठति काले तु अन्तपरिहीने ।
यस्मात् अलोकक्षेत्रे धर्मद्रव्यं न तदस्ति ॥

जो जत्थ कम्ममुक्को जलथलआयासपच्चए णयरे ।
सो रिजुगई पवण्णो माणुसखेत्ताउ उप्पयइ ॥ ६९० ॥

यो यत्र कर्ममुक्तो जलस्थलाकाशपर्यन्ते नगरे ।
स ऋजुगतिं प्रपन्नः मनुष्यक्षेत्रेण उत्पतते ।

पणयालसयसहस्सा माणुसखेत्तं तु होइ परिमाणं ।
सिद्धाणं आयामो तित्तियमित्तम्मि आयासे ॥ ६९१ ॥

पंचचत्वारिंशच्छतसहस्रं मानुषक्षेत्रस्य तु भवति परिमाणं ।
सिद्धानामायामः तावन्मात्रे आकाशे ॥

सव्वे उवरिं सिरसा विगमा हिट्ठम्मि णिचलपएसा ।
अवगाहणा य जम्हा उक्कस्स जहण्णिया दिट्ठा ॥ ६९२ ॥

सर्वे उपरि सदृशाः विषमा अधस्तने निश्चलप्रदेशाः ।
अवगाहना च यस्मात् उत्कृष्टा जघन्यादिष्टा ॥

एगो वि अणंताणं सिद्धो सिद्धाण देइ अवगासं ।
जह्मा सुहमत्तगुणो अवगाहगुणो पुणो तेसिं ॥ ६९३ ॥

एकोऽपि अनन्तानां सिद्धः सिद्धाना ददात्यवकाशं ।
यस्मात्सूक्ष्मत्वगुणः अवगाहनगुणः पुनः तेषां ॥

सम्मत्तणाणदंसणवीरियसुहमं तहेव अवगहणं ।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं ॥ ६९४ ॥

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनवीर्यसूक्ष्मं तथैवावगाहनं ।
अगुरुलघु अव्याबाधं अष्टगुणा भवन्ति सिद्धानां ॥

जाणइ पिच्छइ सयलं लोयालोयं च एक्कहेलाए ।
सुक्खं सहावजायं अणोवमं अंतपरिहीणं ॥ ६९५ ॥

जानाति पश्यति सकलं लोकालोकं च एकहेलया ।
सुखं स्वभावजातं अनुपमं अन्तपरिहीनं ॥

रविमेरुचंदसायरगयणाईयं तु णत्थि जह लोए ।
उवमाणं सिद्धाणं णत्थि तहा सुक्खसंपाए ॥ ६९६ ॥

रविमेरुचन्द्रसागरगगनादिकं तु नास्ति यथा लोके ।
उपमानं सिद्धाना नास्ति तथा सुखसंपाते ॥

चलणं वलणं[1] चिंता करणीयं किं पि णत्थि सिद्धाणं ।
जम्हा अइंदियत्तं कम्माभावे समुप्पण्णं ॥ ६९७ ॥

चलनं वलनं चिन्ता करणीयं किमपि नास्ति सिद्धानां ।
यस्मादतीन्द्रियत्वं कर्माभावे समुत्पन्नं ॥

णट्ठट्ठकम्मबंधणजाइजरामरणसिंधुमुक्काणं ।
अट्ठवरिट्ठगुणाणं णमो णमो सव्वसिद्धाणं ॥ ६९८ ॥

१ वलनं च । वचन ।

संसारकानन-जन्मातिजरामरणविप्रमुक्तेभ्यः ।
अष्टविधगुणेभ्यो नमो नमः सर्वसिद्धेभ्यः ॥

जिणवरसासणमतुलं जयउ चिरं सूरिसपरउवयारी ।
पाढय साहू वि तहा जयंतु भव्वा वि भुवणयले ॥६९९॥

जिनवरशासनमतुलं जयतु चिरं सूरिः स्वपरोपकारी ।
पाठकः साधुरपि तथा जयन्तु भव्या अपि भुवनतले ॥

जो पढइ सुणइ अक्खइ अण्णंपि भावसंगहं सुत्तं ।
सो हणइ णिययकम्मं कमेण सिद्धालयं जाइ ॥ ७०० ॥

यः पठति शृणोति कथयति अन्येषां भावसंग्रहं सूत्रं ।
स हन्ति निजकर्म क्रमेण सिद्धालयं याति ॥

सिरिविमलसेणगणहरसिस्सो णामेण देवसेणोत्ति ।
अबुहजणबोहणत्थं तेणेयं विरइयं सुत्तं ॥ ॥७०१

श्रीविमलसेनगणधरशिष्यो नाम्ना देवसेन इति ।
अबुधजनबोधनार्थं तेनेदं विरचितं सूत्रं ॥

इत्ययोगकेवलिगुणस्थानं चतुर्दशम् ।

इति सांख्यसंग्रहशास्त्रं समाप्तम् ।

कर्मोदयाद्भवो भावो जीवस्यौदयिकस्तु यः ।
स्वभावः परिणामः स्यात्तद्भवः पारिणामिकः ॥ ९ ॥
द्वौ नवाष्टादशैकाग्रविंशतिश्च त्रयस्तथा ।
इत्यौपशमिकादीनां भावानां भेदसंग्रहः ॥ १० ॥
स्यादुपशमसम्यक्त्वं चारित्रं च तथाविधम् ।
इत्यौपशमिको भावो भेदद्वयमुपागतः ॥ ११ ॥
सम्यक्त्वं दर्शनं ज्ञानं वृत्तं दानादिपंचकम् ।
स्यात्कर्मक्षयोद्भूतं नवैते क्षायिके भिदः ॥ १२ ॥

[illegible]—

दर्शनत्रयमाद्यं च ज्ञानचतुष्कमादिमम् ।
क्षायोपशमसम्यक्त्वं त्र्यज्ञानं दानपंचकम् ॥ १३ ॥
रागोपयुक्तचारित्रं संयमासंयमस्त्विति ।
अष्टादश प्रभेदाः स्युः क्षायोपशमिके त्वमी ॥ १४ ॥
चतस्रो गतयो लिंगं त्रयो भेदास्त्वसंयमः ।
लेश्याषट्कमसिद्धत्वं चत्वारश्च कषायकाः ॥ १५ ॥
अज्ञानेन संयुक्ताः प्रभेदा एकविंशतिः ।
औदयिकस्य भावस्य निर्दिष्टा [illegible] ॥ १६ ॥
अभव्यत्वं च भव्यत्वं जीवत्वं च त्रयः स्मृताः ।
पारिणामिकभावस्य भेदा गणधरैः स्फुटम् ॥ १७ ॥
मिथ्यादित्रिषु [illegible] संयतादिषु ।
चतुर्षु [illegible] चतुर्षु निर्मिताः पृथक् ॥ १८ ॥

[illegible]

आद्यं विना चतुर्भावाः क्षपकश्रेणिसंभवाः ।
विनौपशमिकं मिश्रं त्रयः स्युर्योग्ययोगिनोः ॥ १९ ॥
सिद्धे द्वावेव जायेते क्षायिकः पारिणामिकः ।
गुणस्थानान्यतो वक्ष्ये तल्लक्षणलक्षितम् ॥ २० ॥
मिथ्या सासादनं नाम मिश्रमसंयताह्वयम् ।
विरताविरताख्यं स्यात् प्रमत्तं चाप्रमत्तकम् ॥ २१ ॥
अपूर्वकरणाभिख्यं ततोऽनिवृत्तिसंज्ञकम् ।
सूक्ष्मलोभात्मकं तस्मादुपशान्तकषायकम् ॥ २२ ॥
क्षीणमोहं सयोगाख्यमयोगिस्थानमन्तिमम् ।
एतानि गुणस्थानानि प्रभवन्ति चतुर्दश ॥ २३ ॥
एतैस्त्यक्ताः प्रजायन्ते सिद्धा लोकोत्तमोत्तमाः ।
स्वशुद्धात्मसुखानन्दरसास्वादनतत्पराः ॥ २४ ॥
तत्राद्यं यद्गुणस्थानं मिथ्यात्वं नाम जायते ।
पंचानां दृष्टिमोहाख्यकर्मणामुदयोद्भवम् ॥ २५ ॥
तत्रास्त्यौदयिको भावो मिथ्याकर्मोदयोद्भवः ।
मुख्यतस्तद्वशाज्जन्तोर्वैपरीत्यं प्रजायते ॥ २६ ॥
अदेवे देवताबुद्धिरतत्वे तत्वनिश्चयः ।
मिथ्यात्वाविलचित्तस्य जीवस्य जायते तथा ॥ २७ ॥
मधुरं जायते तीक्ष्णं तीक्ष्णं तु मधुरायते ।
पित्तज्वरार्तजीवस्य वैपरीत्यं यथाखिलम् ॥ २८ ॥

---

१ सासादनं ख. । २ मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिचतुष्कं चेति पंचानां दृष्टिमोहसंज्ञा मिश्रसम्यक्त्वकर्मानुमेलने च सप्तानामपि । तदुक्तं—

एकधा त्रिविधा वा स्यात्कर्म मिथ्यात्वसंज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कं च सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥

मद्यमोहाद्यथा जीवो न जानात्यहितं हितम् ।
धर्माधर्मौ न जानाति मिथ्यावासनया तथा ॥ २९ ॥
मिथ्यादृष्टेर्न रोचेत जैनं[२] वाक्यं निवेदितम् ।
उपदिष्टानुपदिष्टमतत्त्वं रोचते स्वयम् ॥ ३० ॥
तन्मिथ्यात्वं जिनैः प्रोक्तं पंचधैकान्तवादतः ।
अतोऽहं क्रमशो वच्मि तत्तद्वादविकल्पनम् ॥ ३१ ॥
वेदान्तं क्षणिकत्वं च शून्यत्वं विनयात्मकम् ।
अज्ञानं चेति मिथ्यात्वं पंचधा वर्तते भुवि ॥ ३२ ॥
वेदवादी वदत्येवं विपरीतं तु मूढधीः ।
जलस्नानाद्भवेच्छुद्धिः पितॄणां मांसतर्पणम् ॥ ३३ ॥
गोयोनिस्पर्शनाद्धर्मः स्वर्गोऽग्निर्जीवघातनात् ।
इत्यादिदुर्घटोत्कटयं वेदवादिमते मतम् ॥ ३४ ॥
यद्यम्बुस्नानतो देही कृतपापाद्विमुच्यते ।
तदा याति दिवं सर्वे जीवास्तोयसमुद्भवाः ॥ ३५ ॥
यदर्जितं पुरा पापं जीवैर्योगत्रयाश्रयात् ।
कथं तेऽत्र विमुंचन्ति तीर्थतोयावगाहनात् ॥ ३६ ॥
उक्तं च गीतायां:—

अरण्ये निर्जले देशे अशुचिर्ब्राह्मणो मृतः ।
वेदवेदांगतत्त्वज्ञः कां गतिं स गमिष्यति ॥ १ ॥
यद्यसौ नरकं याति वेदाः सर्वे निरर्थकाः ।
यदि स्वर्गमवाप्नोति जलशौचं निरर्थकं ॥ २ ॥

---

१ अत्र हि न चतुर्थी यदा रोचेत तदा चतुर्थी यदा तु न रोचेत तदा तु प-टचेत । २ जिनवाक्य. ख. । ३ नो का । ४ अत्र हि यद्गुदेशं वेदवादी [illegible] जीवशुद्धि मन्यते तस्याः तीर्थेशाथा निषेधः क्रियते न तु [illegible] [illegible] [illegible] । ५ अस्यार्थे "ओदी" इति. ख.—पाठः । ६ अत्र स्वर्गमवाप्नोति च ।

स्वकर्मफलपाकेन गोत्रजाः पशुतां गताः ।
श्राद्धार्थं घातनात्तेषां किन्न स्यात्तत्फलादनम् ॥ ४४ ॥
कथंचित्पशुतां प्राप्तः पिता स्वकर्मपाकतः ।
हत्वा तमेव तन्मांसं तत्तृप्त्यैभक्षितं भवेत् ॥ ४५ ॥
चक्रनामा द्विजस्तस्य पिता मृत्वा मृगोऽभवत् ।
तच्छ्राद्धे तत्पलं दत्त्वा द्विजेभ्यस्तेन भक्षितम् ॥ ४६ ॥
श्रुत्वाप्येवं पुराणोक्तं सुप्रसिद्धं कथानकम् ।
तथाप्यज्ञाः प्रकुर्वन्ति पित्रोर्मांसतर्पणम् ॥ ४७ ॥
मांसाशिनो न पात्रं स्युर्मांसदानं न चोत्तमम् ।
तत्पितृभ्यः कथं तृप्त्यै भुक्तं मांसाशिभिर्भवेत् ॥ ४८ ॥
भुक्तेऽन्यैस्तृप्तिरन्येषां भवत्यस्मिन् कथंचन ।
तत्तत्स्वर्गं गता जीवास्तृप्तिं गच्छन्ति निश्चितम् ॥ ४९ ॥
पुत्रेणार्पितदानेन पितरः स्वर्गमवाप्नुयुः ।
तर्हि तत्कृतपापेन तेऽपि गच्छन्ति दुर्गतिम् ॥ ५० ॥
अन्यस्य पुण्यपापाभ्यां भुनक्त्यन्यः शुभाशुभम् ।
ईदृशं विपरीतं तन्न कापि श्रूयते भुवि ॥ ५१ ॥
मृत्वा जीवोऽथ गृह्णाति देहमन्यं हि तत्क्षणे ।
पितृत्वं कस्य जायेत वृथैवं जल्पनं ततः ॥ ५२ ॥
स्वकृतपुण्यपापाभ्यां प्राप्तिः स्यात्सुखदुःखयोः ।
तस्माद्भव्याः कुरुध्वं तद्यस्माच्छ्रेयो भवेत्सदा ॥ ५३ ॥
अथैके प्रवदन्त्येवं भूतोयाग्निनगादिषु ।
भूतग्रामेषु सर्वेषु विष्णुर्वसति सर्वगः ॥ ५४ ॥

१ पिताऽथ कर्मपाकतः ख. । २ पितु । ३ पितृचरमृगस्य ४ पितृणो क. । ५ तद्गतस्वर्गे क. ।

उक्तं च पुराणे—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालमालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥ १ ॥

यद्येवं सर्वाङ्गिदेहेषु विष्णुः सर्वगतो यदि ।
वृक्षादिपातनात्सोऽपि हन्यमानो न किं भवेत् ॥ ५५ ॥
मत्स्यकूर्मवराहाद्या विष्णोर्गर्भाश्रया दश ।
मत्स्यादिशैलबिम्बानां पूजनं क्रियते ततः ॥ ५६ ॥
तस्मान्मत्स्यादिजीवानां घेनन्यसंयुजां जनैः ।
प्राणातिपातनं तेषां श्राद्धादौ क्रियते कथम् ॥ ५७ ॥
सर्वेष्वङ्गप्रदेशेषु प्रत्येकं देहधारिणाम् ।
ब्रह्माद्या देवताः सन्ति वेदार्थोऽयं सनातनः ॥ ५८ ॥

उक्तं च पुराणे—

नाभिस्थाने वसेद्ब्रह्मा विष्णुः कण्ठे समाश्रितः ।
तालुमध्यस्थितो रुद्रो ललाटे च महेश्वरः ॥ १ ॥
नासाग्रे तु शिवं विद्यात्तस्यांते च परापरं ।
परात्परतरं नास्ति शास्त्रस्यायं विनिश्चयः ॥ २ ॥

यज्ञादावामिषं तेषां भुक्तं छागादिदेहिनाम् ।
यदि स्वर्गाय जायेत नरकं केन गम्यते ॥ ५९ ॥
तदङ्गे येन विद्यन्ते तच्छास्त्रं स्वाभिरर्थकम् ।
सन्ति ते चेत्कथं हन्या निघृर्णैर्यज्ञकर्मणि ॥ ६० ॥

इति मांसेन पितृवर्गतृप्तिदूषणम् ।

---

१ दिशा, ख. । २ अस्याग्रे 'श्लोकौ.' ख-पाठ । ३ इति ग—पुस्तके नास्ति ।

अन्ये चैवं वदन्त्येके यथार्थं यो निहन्यते ।
तस्य मांसाशिनः सोऽपि सर्वे यान्ति गुणत्रयम् ॥ ११ ॥
नास्ति न क्रियते यत्नः शास्त्रैर्मांसस्य निश्चयात् ।
पुराणादिभिः सर्वे प्रगच्छन्ति दिवं यथा ॥ १२ ॥
एवं [illegible] मत्वा [illegible] ।
[illegible] ॥ १३ ॥
प्राणिघातान्नरो [illegible] मांसभक्षणे ।
[illegible] ॥ १४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ॥ २ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥ १५ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इत्याद्यनेकधा शास्त्रं यत्कृतं दुष्टचेतसैः ।
तदङ्गीकृत्य जायंते जना दुर्गतिभाजनम् ॥ ६८ ॥
तथाचप्राणिघातेन साधितं मांसभक्षणात् ।
पापं सम्पद्यते यस्मादन् रं श्वाभ्रं तदुच्यते ॥ ६९ ॥
खरशूकरमार्जारश्वानवानरगोष्ठुरा ।
शृगालिक्रमाश्चतुष्कोणा दुःस्पर्शा वज्रसन्निभा ॥ ७० ॥
घंटाकारा अधोवक्त्रा दुर्गन्धास्तमसावृताः ।
श्वभ्रेषु पापजीवानामुत्पत्त्यै सन्ति योनयः ॥ ७१ ॥
तीव्रमिथ्यात्वसंयुक्ता प्राणिघातनतत्पराः ।
क्रूरा दुश्चेष्टिता जीवा उत्पद्यन्तेऽत्र योनिषु ॥ ७२ ॥
अन्तर्मुहूर्तकालेन पर्याप्तीः समवाप्य षट् ।
ततः पतन्ति शस्त्राग्रे स्वयमेवोत्पतन्ति च ॥ ७३ ॥
असुरा आतृतीयान्तं योधयन्ति परस्परम् ।
प्रयुध्यन्ते स्वयं तेऽपि ज्ञात्वा वैरं पुरातनम् ॥ ७४ ॥
यज्ञार्दो निहता पूर्वं छागाद्या मुष्टिघाततः ।
स्मृत्वा तत् प्राक्तनं वैरं भवन्ति हननोद्यताः ॥ ७५ ॥
कुन्तक्रकचशूलाद्यैर्नानाशस्त्रैस्तनूद्भवैः ।
खंडं खंडं विधायैवं प्रपीडयन्त्यहर्निशम् ॥ ७६ ॥
मृतकस्येव संघातस्तद्देहेषु प्रजायते ।
यावदायुःस्थितिस्तेषां न तावन्मरणं भवेत् ॥ ७७ ॥
तप्तायःपिण्डमादाय संप्रदर्श्यामिषोपमम् ।
निक्षिपन्ति मुखे तेषां विहितामिषभोजिनाम् ॥ ७८ ॥

१ च. ख. । २ पारदरदैव ।

शारीरं मानसं दुःखमन्योन्योदीरितं च यत् ।
सहन्ते नारका नित्यं पूर्वपापविपाकतः ॥ ७९ ॥
लेश्यास्तिस्रोऽशुभास्तेषां संस्थानं हुंडसंज्ञकम् ।
अतिक्लिष्टाः परीणामा लिंगं नपुंसकाह्वयम् ॥ ८० ॥
क्षारोष्णतीव्रमब्धावनर्दावैतरणीजलात् ।
दुर्गन्धमृन्मयाहाराद्भुंजते दुःखमद्भुतम् ॥ ८१ ॥
अक्ष्णोर्निमीलनं यावन्नास्ति सौख्यं च तावता ।
नरके पच्यमानानां नारकाणामहर्निशम् ॥ ८२ ॥
तस्मान्निर्गत्य कष्टेन पशुतां यान्ति ते जनाः ।
तत्र दुःखमसह्यं च जननीगर्भगह्वरे ॥ ८३ ॥
गर्भाद्विनिसृतानां स्याद् कियत्कालावशेषतः ।
यज्ञादौ विहितं कर्म तत्तथैवोपतिष्ठति ॥ ८४ ॥
एवं भ्रमन्ति संसारे स्मृतिं लब्ध्वा पुनः पुनः ।
ज्ञात्वैवं क्रियतां भव्यैः प्राणिनां प्राणरक्षणम् ॥ ८५ ॥

यज्ञे पशुवधकृतेन स्वर्गप्राप्तिदूषणम् ।

गोयोनिर्वन्द्यते नित्यं न चास्यं मलिनं यतः ।
पश्य लोकस्य मूर्खत्वं वर्तते हेतुवर्जितम् ॥ ८६ ॥
तिरश्ची गौस्तृणाहारी नित्यं विण्मूत्रलालसा ।
तस्या अपरभागस्य कथं देवत्वमागतम् ॥ ८७ ॥
ईदृग्विधापि वन्द्या सा रज्ज्वा किं बध्यते दृढम् ।
दुग्धार्थं पीड्यते दण्डैराक्रन्दन्ती स्वभाषया ॥ ८८ ॥
तस्याङ्गे देवताः सर्वे तिष्ठन्ति सागरा नगाः ।
कथं गौर्यज्ञवेलायां वध्यते सा द्विजाधमैः ॥ ८९ ॥

१ तदहं ख. ।

यथा गौः प्रसवेद्वन्ध्या वर्धते शूकरादयः ।
तयोः सादृश्यसद्भावे विण्मूत्राहारसेवनात् ॥ ९० ॥
एतत्स्वचाग्विरुद्धं यन्मन्यन्ते जडबुद्धयः ।
आयान्ति दुर्गतौ जन्म प्रपद्यन्ते सुनिश्चितम् ॥ ९१ ॥
न वन्ध्या गौर्भवेद्वन्ध्या गीर्वाणीत्यभिधानतः ।
जैनेन्द्री विमला तथ्या भव्यानां मुक्तिदायिनी ॥ ९२ ॥

इति गोयोनिवंदनादूषणम् ।

विरंचिर्जगतः कर्ता संहर्ता गिरिजापतिः ।
रक्षकः पुण्डरीकाक्ष इत्यूचु श्रुतवेदिनः ॥ ९३ ॥
यदि ब्रह्मा जगत्कर्ता तत्किं शक्रस्य संमदि ।
विलोक्याप्सरसां वृन्दं जातो भोगाभिलाषुकः ॥ ९४ ॥
ततोऽसौ स्वास्पदं त्यक्त्वा कर्तुं लग्नस्तपो भुवि ।
तावद्भीत्या कृतं देवैस्तत्तपोविघ्नकारणम् ॥ ९५ ॥
दृष्ट्वा तिलोत्तमानृत्यं तत्राभूद्विषयातुरः ।
गत्वा तदन्तिकं गाढमाश्लेषं याचते हि सः ॥ ९६ ॥
अनिच्छन्तीं तिरोभूतां तां गवेषयतोऽभवत् ।
तस्मिन्मुखानि चत्वारि पंचमं च खराननम् ॥ ९७ ॥
हास्यास्पदीकृतो देवैस्ततः क्रुद्धोतिनिर्भरम् ।
खरास्येन भ्रमन्तोऽसौ भक्षणार्थं मरुद्गणान् ॥ ९८ ॥
दृष्ट्वा तान् क्षुभितान् सर्वांश्छिन्नं रुद्रेण तच्छिरः ।
असेयजन् विषयासक्तिं प्रविष्टो वनराजकम् ॥ ९९ ॥
तिलोत्तमेति विभ्रान्त्या सेविता वच्छभल्लिका ।

---

१ गौरत्र भवेद्. ख. । २ वाह्यः ख. । ३ इत्युक्तं ख. । ४ मा ख. । ५ अत्यऋद्धि । ६ वनराजिकां. ख. ।

भस्मसात्कुरुते रुद्रस्त्रैलोक्यं स्वल्पचिन्तया ।
तदा संभ्रमति कामी गंगागौरीसमन्वितः ॥ १२२ ॥
दहत्येकतरं ग्रामं स पापी भण्यते जनैः ।
यो विश्वं निर्दहेत् सर्वं स कथं याति पूज्यताम् ॥ १२३ ॥
अनन्यसंभवीशक्तियुक्तस्य प्रथिवीपतेः ।
पापं न विद्यते यस्मात्पापहन्ता स एव हि ॥ १२४ ॥
शम्भोर्न विद्यते पापं चेत्कथं भ्रमते भुवि ।
प्रतितीर्थं कपालभ्रब्रह्मशीर्षस्य हानये ॥ १२५ ॥
भ्रमन्प्राप्त[1] पलाशाख्यं ग्रामं यावत्कपालभृत् ।
वत्सेन तत्र शृंगाभ्यां विदार्य मारितो द्विजः ॥ १२६ ॥
तत्पापात् स्वतनुं कृष्णं दृष्ट्वा सोऽथ विनिर्ययौ ।
निजमातरमापृच्छ्य तत्पापोच्छेदनेच्छया ॥ १२७ ॥
गतोऽनुमार्गतस्तस्य वृषभस्य महेश्वरः ।
गांगं ह्रदं प्रविष्टौ द्वौ[2] त्यक्तपापौ बभूवतुः ॥ १२८ ॥
वृषभस्योपदेशेन गंगातोयावगाहनात् ।
जातस्त्यक्तकपालोऽपि कपालीत्युच्यते जनैः ॥ १२९ ॥
यदि य[3] स्वकृतं पापं निर्नाशयितुमक्षमः ।
सोऽन्येषां कल्मषापाये स्वामी स्यादिति कौतुकम् ॥१३०॥
ईदृक्पुराणसंदोहं श्रुत्वा युक्तिविवर्जितम् ।
विभ्रमन्ति[4] जना स्वैरं संसारगहने वने ॥ १३१ ॥
महाम्कन्धस्य लोकस्य कर्ता हर्ता च रक्षकः ।
न कोऽपि विद्यते तस्माद्विपरीतमिदं वचः ॥ १३२ ॥

---

१ तावत् ख. । २ तौ. ख । ३ यदि स्वयं कृतं ख । ४ संभ्रमन्ति ख ।

इत्येतद्विपरीतात्ममिथ्यात्वं कथितं मया ।
अतश्च क्षणिकैकान्तं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ॥ १३३ ॥

इति वेदान्तोक्तं विपरीत मिथ्यात्वम् ।

क्षणिकैकान्तमिथ्यात्ववादी बौद्धो वदत्यतः ।
उत्पन्नश्च प्रतिध्वंसी भवत्यात्मा प्रतिक्षणम् ॥ १३४ ॥
क्षणिके स्वीकृते जीवे क्षणादूर्ध्वमभावतः ।
पुण्यं पापं च तत्रापि कः प्राप्नोति पुरातनम् ॥ १३५ ॥
संयमो नियमो दानं कारुण्यं व्रतभावना ।
सर्वथा घटते नैषां नित्यक्षणिकवादिनाम् ॥ १३६ ॥
तेषां बन्धो विना बन्धं देहो देहं विना तयोः ।
नास्ति मोक्षस्ततो नूनं नास्तिकत्वं प्रसज्यते ॥ १३७ ॥
ज्ञानं यदि क्षणध्वंसि बालत्वे चेष्टितं च यत् ।
इदं पुत्रकलत्राद्यं ममेति स्मर्यते कथम् ॥ १३८ ॥
स्मर्यते दृष्टिमात्रेण मैत्री वैरं पुरातनम् ।
निर्गतेन निजावासं पुनरागम्यते कथम् ॥ १३९ ॥
अन्यच्च क्षणिकैकान्ते वर्तन्ते स्वेच्छया जनाः ।
सुरामांसाशनेनैते मन्यन्ते मोक्षसाधनम् ॥ १४० ॥
पात्रे पतितं सर्वं भक्ष्याभक्ष्यं च सेव्यते ।
अस्मच्छास्त्रे प्रयुक्तत्वान्नास्मिन् विचारणा मता ॥ १४१ ॥
सुरामांसाशनात्स्वर्गो मोक्षं च गम्यते यदि ।
दुःसहं नारकं भीमं प्राप्यते केन हेतुना ॥ १४२ ॥

१ मया. ख. । २ स्वदः ख. । ३ नैषां. ख. । ४ न हि ख. ।

भस्ममात्कुर्वते रुद्रस्त्रैलोक्यं स्वल्पचिन्तया ।
तदा संवसति काश्यां गंगागौरीसमन्वितः ॥ १२२ ॥
दहत्येकतरं ग्रामं स पापी मण्यते जनैः ।
यो विश्वं निर्दहेत् सर्वं स कथं याति पूज्यताम् ॥ १२३ ॥
अनन्यसंभवीशक्तियुक्तस्य पृथिवीपतेः ।
पापं न विद्यते यस्मात्पापहन्ता स एव हि ॥ १२४ ॥
शम्भोर्न विद्यते पापं चेत्कथं भ्रमते भुवि ।
प्रतितीर्थं करालब्रह्मशीर्षस्य हानये ॥ १२५ ॥
भ्रमन्प्राप्तः पलाशाख्यं ग्रामं यावत्कपालभृत् ।
वत्सेन तत्र शृंगाभ्यां विदार्य मारितो द्विजः ॥ १२६ ॥
तत्पापात् स्वतनुं कृष्णं दृष्ट्वा सोऽथ विनिर्ययौ ।
निजमातरमापृच्छ्य तत्पापोच्छेदनेच्छया ॥ १२७ ॥
गतोऽनुमार्गतस्तस्य वृषभस्य महेश्वरः ।
गांगं ह्रदं प्रविष्टौ द्वौ त्यक्तपापौ बभूवतुः ॥ १२८ ॥
वृषभस्योपदेशेन गंगातोयावगाहनात् ।
जातस्त्यक्तकपालोऽपि कपालीत्युच्यते जनैः ॥ १२९ ॥
यदि[3] य स्वकृतं पापं निर्नाशयितुमक्षमः ।
सोऽन्येषां कल्मषापाये स्वामी स्यादिति कौतुकम् ॥१३०॥
ईदृक्पुराणसंदोहं श्रुत्वा युक्तिविवर्जितम् ।
विभ्रमन्ति जना स्वैरं संसारगहने वने ॥ १३१ ॥
महास्कन्धस्य लोकस्य कर्ता हर्ता च रक्षकः ।
न कोऽपि विद्यते तस्माद्विपरीतमिदं वचः ॥ १३२ ॥

१ तावत् ख. । २ तौ. ख । ३ यदि स्वय कृतं ख. । ४ बंभ्रमन्ति ख ।

अचेतनानि भूतानि नोपादानानि चेतने।
भिन्नेति गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युपदर्शनात् ॥ १५३ ॥
स्वसंवेदनवेद्यत्वात् सुखदुःखादिवद्ध्रुवम्।
जीवसिद्धिं कथं नैते मन्यन्ते दुष्टवादिनः ॥ १५४ ॥
यावत्संवर्धते देहो यावज्जीवोपतिष्ठते।
तस्याभावे न सा वृद्धिर्देहो विलयमाप्नुयात् ॥ १५५ ॥
पंचभूतात्मिके देहे देहिना वर्जिते न हि।
गंभृतिर्गमनादीनां प्रत्यक्षे भूतसंचये ॥ १५६ ॥
मृत्वा यमभवद्रक्षो यत्पूर्वो जनको परः।
नासत्यं जातु संभूयात् प्रसिद्धमिति सर्वतः ॥ १५७ ॥
आत्यनुस्मरणाज्जीवो गतागतविनिश्चयात्।
पृथक्करणमाद्रव्याज्जीवोऽस्तीति विनिश्चयः ॥ १५८ ॥
नास्ति जीव इति व्यक्तं यद्वदन्तीह दुर्धियः।
तन्मिथ्यात्वं परित्याज्यं सम्यक्त्वभावनाबलात् ॥ १५९ ॥

इति नास्तिकवादनिराकरणम्।

तापसा प्रवदन्त्येवं सर्वे जीवाः शिवात्मकाः।
ततस्तेषां प्रकुर्वीत विनयो मोक्षसाधकः ॥ १६० ॥
यद्यंगिनः शिवात्मानो वन्दकः किम तद्विधः।
तस्मात्कः केन वन्द्य स्याद्द्वयोः साम्यं शिवत्वयोः॥१६१॥
कर्मोपाधिविनिर्मुक्तं तद्रूपं शिवमुच्यते।
यत्कर्मस्तोमसंयुक्तमशुद्धात्मकमित्यतः ॥ १६२ ॥

---

१ अस्मात्पूर्वं पर इति पाठ। २ जातगतागत० ख.। ३ पृथक् पृथक् मादस्मात्। ४ नास्तिकवादनिवारणं. ख.।

अन्ये धीवरशौण्डाद्याः सूनकारादयो जनाः ।
मुक्तिभाजो भवन्त्येते यदि तथ्येदृशी श्रुतिः ॥ १४३ ॥
जीवो नित्यस्तु पर्याया अनित्यास्तु तदाश्रयात् ।
अनित्यत्वं हि जीवस्य कथंचिदृष्टमर्हता ॥ १४४ ॥
अनन्तानन्तक्षणिकैकान्तमिथ्यात्वस्यापसारणम् ।
कृत्वा सम्यक्त्वहेतूनां प्रयत्नं क्रियतामिति ॥ १४५ ॥

इति नित्यक्षणिकैकान्तमिथ्यात्वम् ।

समवायोऽपि चैतन्यलक्षणो यः सनातनः ।
[illegible] ॥ १४६ ॥
अचेतनानि भूतानि जीवः स्याच्चेतनात्मकः ।
कथं [illegible] संभवः ॥ १४७ ॥
भूतसंयोगमिश्रा चेच्चैतन्यमभिधीयते ।
पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिवा भवेत् ॥ १४८ ॥
गर्भादिमरणपर्यन्तं [illegible] ।
[illegible] विना [illegible] ॥ १४९ ॥
[illegible] ।
हा ! [illegible] ॥ १५० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १५१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १५२ ॥

[illegible]

अचेतनानि भूतानि नोपादानानि चेतने ।
मिथ्येति गोमयादिभ्यो वृश्चिकाद्युपदर्शनात् ॥ १५३ ॥
स्वसंवेदनवेद्यत्वात् सुखदुःखादिवद्ध्रुवम् ।
जीवसिद्धिं कथं नैते मन्यन्ते दुष्टवादिनः ॥ १५४ ॥
तावत्संवर्धते देहो यावज्जीवोपतिष्ठते ।
तस्याभावे न सा वृद्धिर्देहो विलयमाप्नुयात् ॥ १५५ ॥
पंचभूतात्मिके देहे देहिना वर्जिते न हि ।
संभूतिर्गमनादीनां प्रत्यक्षे भूतसंचये ॥ १५६ ॥
मृत्वायमभवद्रक्षो बन्धुर्वा जनको परः ।
नासत्यं जातु संभूयात् प्रसिद्धमिति सर्वतः ॥ १५७ ॥
जात्यनुस्मरणाज्जीवो गतागतविनिश्चयात् ।
पृथक्करणमाहात्म्याज्जीवोऽस्तीति विनिश्चय ॥ १५८ ॥
नास्ति जीव इति व्यक्तं यद्वदन्तीह दुर्धियः ।
तन्मिथ्यात्वं परित्याज्यं सम्यक्त्वभावनाबलात् ॥ १५९ ॥

इति नास्तिकवादनिराकरणम् ।

तापसाः प्रवदंत्येवं सर्वे जीवाः शिवात्मकाः ।
ततस्तेषां प्रकुर्वीत विनयो मोक्षसाधकः ॥ १६० ॥
यदेगिनः शिवात्मानो वन्दकः शिष्य तद्विधः ।
तस्मात्कः केन वन्द्य स्याद्द्वयोः साम्यं शिवत्वयोः ॥ १६१ ॥
कर्मोपाधिविनिर्मुक्तं सद्रूपं शिवमुच्यते ।
यत्कर्मस्तोमसंयुक्तमशुद्धात्मकमित्यतः ॥ १६२ ॥

---

१ अस्मात्पूर्वं एर इति पाठ. । २ [illegible] ख. । ३ पृथक् पृथक् [illegible] । ४ नास्तिकवादनिरासः. ख. ।

अन्ये धीवरशौण्डाद्याः सूनकाराद्यो जनाः ।
मुक्तिभाजो भवन्त्येते यदि तथ्येदृशी श्रुतिः ॥ १४३ ॥
जीवो नित्यस्तु पर्याया अनित्यास्तु तदाश्रयात् ।
अनित्यत्वं हि जीवस्य कथंचिद्दृष्टमर्हता ॥ १४४ ॥
अतस्तत्तत्क्षणिकैकान्तमिथ्यात्वस्यापसारणम् ।
कृत्वा सम्यक्त्वहेतूनां प्रयत्नं क्रियतामिति ॥ १४५ ॥

इति नित्यक्षणिकैकान्तमिथ्यात्वम् ।

सत्तावबोधचैतन्यलक्षणो यः सनातनः ।
तस्याभावं वदत्येवं चार्वाको मानवर्जितः ॥ १४६ ॥
अचेतनानि भूतानि जीवः स्याच्चेतनात्मकः ।
कथं भवेद्विजातिभ्यः सचेतनस्य संभवः[1] ॥ १४७ ॥
भूतयोगात्मिका शक्तिश्चैतन्यमभिधीयते ।
पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिर्यथा भवेत् ॥ १४८ ॥
गर्भादिमरणपर्यन्तं तस्यावस्थानसंभवः ।
ततो नास्त्यन्यजीवत्वं विना तेनान्यलोकता ॥ १४९ ॥
भुङ्क्ष्वेह लौकिकं सौख्यं यतः क्लिश्यन्त्यहर्निशम् ।
हा ! वंचितास्त एवास्मिन्नाशापाशवशीकृताः ॥ १५० ॥
अधर्माभ्यास संभव्या भर्त्री माता गुरुप्रियः ।
मद्याद्य च न दोषोऽत्र जीवस्याभावतः स्फुटम् ॥ १५१ ॥
इत्येवं निगदन् दुष्टश्चार्वाकः किम् विन्दति ।
मद्य मांसीकृता जिह्वां प्रत्यहं पापिधाम्या ॥ १५२ ॥

---

१ [illegible] २ [illegible] ३ [illegible] ४ [illegible]

ज्ञाता दृष्टा पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ।
तस्याज्ञानस्वभावत्वं मते सांख्यो निरीश्वरः ॥ १७४ ॥

तस्य मतानुसारित्वमङ्गीकृत्य प्रकल्पितम् ।
मस्करीपूरणेनेह वीरनाथस्य संसदि ॥ १७५ ॥

जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्ततः ।
शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गौतमाभिधः ॥ १७६ ॥

सद्यः सदीक्षितस्तत्र स ध्वनेः पात्रतां यतो ।
ततो देवसभां त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनिः ॥ १७७ ॥

सन्त्यस्मदादयोऽप्यत्र मुनयः श्रुतधारिणः ।
तांस्त्यक्त्वा स ध्वनेः पात्रमज्ञानी गौतमोऽभवत् ॥ १७८ ॥

संनिर्त्यैवं क्षुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम् ।
मिथ्यात्वकर्मणः पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् ॥ १७९ ॥

हेयोपादेयविज्ञानं देहिनां नास्ति जातुचित् ।
तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चय ॥ १८० ॥

यत्कालान्तरितं वस्तु दृष्टपूर्वमनेकधा ।
यच्चज्ञानी कथं तस्य चेतृत्वं दृश्यतेऽङ्गिनः ॥ १८१ ॥

अयं बन्धुः पिता गुरुर्मातेयं भगिनी प्रिया ।
एषां पृथग्विक्रिया तस्य ज्ञानहीनस्य दुर्घटा ॥ १८२ ॥

पंचास्रवविषयाः सर्वैः सेव्यन्ते स्वेच्छया कथम् ।
पापपरस्त्रंभवतस्य न काचित् कर्तृता मता ॥ १८३ ॥

ज्ञानं विना न चारित्रं तद्विना ध्यानसाधनम् ।
ध्यानं विना कथं मोक्षस्तस्माज्ज्ञानं मतो मतम् ॥ १८४ ॥

गृहीत्वा चीवरं दण्डं भिक्षापात्रं च कंबलम् ।
भिक्षाशनं समानीय स्वावासे भुज्यते सदा ॥ १९५ ॥
कियत्काले गतेऽप्येवं जाता सुभिक्षता ततः ।
भणितं संघमाहूय शान्तिना गणधारिणा ॥ १९६ ॥
त्यजध्वं कुत्सिताचारं भजध्वं शुद्धसद्दृशम् ।
कुरुध्वं गर्हणं निन्दां गृह्णीध्वं सद्व्रतं पुनः ॥ १९७ ॥
आकर्ण्येत्यग्रजः शिष्यो जिनचन्द्रो ब्रवीदिदम् ।
नो शक्यतेऽधुना धर्तुं जिनराचारितं व्रतम् ॥ १९८ ॥
ब्रह्मचर्यमचेलत्वं नग्नत्वं स्थितिभोजनम् ।
भूतले शयनं मौनं द्विमासं केशलुञ्चनम् ॥ १९९ ॥
एकस्थानमलाभत्वं सर्वाङ्गमलधारणम् ।
असह्यान्यन्तरायाणि भिक्षानियतकालिकी ॥ २०० ॥
न शक्या मनसा सोढुं द्वाविंशतिपरीषहाः ।
इत्याद्यनेकधा दुःखमधुना केन सह्यते ॥ २०१ ॥
इदानींतनमाचारं गुरुसाध्यं न शक्यते ।
तत्परित्यक्तुमस्माभिस्तस्मान्मौनं भजस्व हि ॥ २०२ ॥
ततोऽभाणि गणी नैवं सुन्दरं यत्त्वयोदितम् ।
स्योदरपूर्तये हेतुर्नो हेतुर्मोक्षसाधने ॥ २०३ ॥
तद्रोषात्पापिना मूर्ध्नि हत्वा दण्डेन मारितः ।
मृत्वा चैत्यगृहे तस्मिन्नाचार्यो व्यंतरोऽभवत् ॥ २०४ ॥
ततः शिष्यमुख्यं यावत्स्वयं भूत्वा गणाग्रणीः ।
तावदृशधा पुनर्दातुं प्रारेभे व्यन्तरामरः ॥ २०५ ॥

१ स्वावासे ख. । २ राचरितं ख. ।

ततो भव्यैः समाराध्यं सम्यग्ज्ञानं जिनोदितम् ।
असाधारणसामग्र्यं निःशेषकर्मणां क्षये ॥ १८५ ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं तद्वशाज्जनाः ।
संसाराब्धौ निमज्जन्ति दुःखकल्लोलसंकुले ॥ १८६ ॥

इत्यज्ञानमिथ्यात्वम् ।

अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूतं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।
विहितं जिनचन्द्रेण श्वेताम्बरमताभिधम् ॥ १८७ ॥
सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥
उज्जयिन्या पुरी ख्याता देशेऽस्त्यवन्तिकाभिधे ।
तत्राष्टाङ्गनिमित्तज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ॥ १८९ ॥
निमित्तज्ञानतत्त्वेन कथितं मुनिजनान् प्रति ।
प्रभवत्यत्र दुर्भिक्षं वर्षद्वादशकावधि ॥ १९० ॥
निशम्येति वचस्तस्य नान्यथा स्यात्कदाचन ।
सर्वे स्वस्वगणोपेता प्रतिदेशं विनिर्ययुः ॥ १९१ ॥
शान्तिनामा गणी चैकः संप्राप्तो विहरन् पुरीम् ।
सौराष्ट्रां वल्लभीं यावत्तत्र संतिष्ठते स्म सः ॥ १९२ ॥
तत्राप्यभून्महाभीमं दुर्भिक्षमतिदुःसहम् ।
विदार्योदरमन्येषामन्नं रंकैर्विलुप्यते ॥ १९३ ॥
ततः सोढुमशक्तैस्तैः भक्तायोदरपूर्तये ।
सच्चारित्रं परित्यज्य स्वीकृता कुत्सिता क्रिया ॥ १९४ ॥

---

१ उज्जयिन्यां पुरि [illegible]
[illegible] । २ [illegible] ।

गृहीत्वा चीवरं दण्डं भिक्षापात्रं च कंबलम् ।
भिक्षाशनं समानीय स्वावासे भुज्यते सदा ॥ १९५ ॥
कियत्काले गतेऽप्येवं जाता सुभिक्षता ततः ।
भणितं संघमाहूय शान्तिना गणधारिणा ॥ १९६ ॥
त्यजध्वं कुत्सिताचारं भजध्वं शुद्धसद्व्रतम् ।
कुरुध्वं गर्हणं निन्दां गृह्णीध्वं सद्व्रतं पुनः ॥ १९७ ॥
आकर्ण्येत्यग्रजः शिष्यो जिनचन्द्रो ब्रवीदिदम् ।
नो शक्यतेऽधुना धर्तुं जिनगचारितं व्रतम् ॥ १९८ ॥
ब्रह्मचर्यमचेलत्वं नग्नत्वं स्थितिभोजनम् ।
भूतले शयनं मौनं द्विमासं केशलुञ्चनम् ॥ १९९ ॥
एकस्थानमलाभत्वं सर्वाङ्गमलधारणम् ।
असह्यान्यन्तरायाणि भिक्षानियतकालिकी ॥ २०० ॥
न शक्या मनसा सोढुं द्वाविंशतिपरीषहाः ।
इत्याद्यनेकधा दुःखमधुना केन सह्यते ॥ २०१ ॥
इदानींतनमाचारं सुखसाध्यं न शक्यते ।
तत्परित्यक्तुमस्माभिस्तस्मान्मौनं भजस्व हि ॥ २०२ ॥
ततोऽभाणि गणी नैवं सुन्दरं यत्त्वयोदितम् ।
स्वोदरपूर्तये हेतुर्नो हेतुर्मोक्षसाधने ॥ २०३ ॥
तद्रोपात्पापिना मूर्ध्नि हत्वा दण्डेन मारितः ।
मृत्वा चैत्यगृहे तस्मिन्नाचार्यो व्यंतरोऽभवत् ॥ २०४ ॥
ततः शिष्यमुख्यं यावत्स्वयं भूत्वा गणाग्रणीः ।
तावदिशक्षां पुनर्दातुं प्रारेभे व्यन्तरामरः ॥ २०५ ॥

---

१ स्वावासे ख. । २ चारितं ख. ।

ततो भव्यैः समाराध्यं सम्यग्ज्ञानं जिनोदितम् ।
असाधारणसामर्थ्यं निःशेषकर्मणां क्षये ॥ १८५ ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं तद्वशात्मनाः ।
संसाराब्धौ निमज्जन्ति दुःखकल्लोलसंकुले ॥ १८६ ॥

इत्यज्ञानमिथ्यात्वम् ।

अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूतं मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।
विहितं जिनचन्द्रेण श्वेताम्बरमताभिधम् ॥ १८७ ॥
सषड्विंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि ।
सौराष्ट्रे वल्लभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥ १८८ ॥
उज्जयिन्या पुरी ख्याता देशेऽस्त्यवन्तिकाभिधे ।
तत्राष्टाङ्गनिमित्तज्ञो भद्रबाहुर्मुनीश्वरः ॥ १८९ ॥
निमित्तज्ञानतस्तेन कथितं मुनिजनान् प्रति ।
प्रभवत्यत्र दुर्भिक्षं वर्षद्वादशकावधि ॥ १९० ॥
निशम्येति वचस्तस्य नान्यथा स्यात्कदाचन ।
सर्वे स्वस्वगणोपेताः प्रतिदेशं विनिर्ययुः ॥ १९१ ॥
शान्तिनामा गणी चैकः संप्राप्तो विहरन् पुरीम् ।
सौराष्ट्रीं वल्लभीं यावत्तत्र संतिष्ठते स्म सः ॥ १९२ ॥
तत्राप्यभून्महाभीमं दुर्भिक्षमतिदुःसहम् ।
विदार्योदरमन्येषामन्नं रंकैर्विभुज्यते ॥ १९३ ॥
तत्र सर्वे समर्थास्ते स्वकीयोदरपूर्तये ।
सच्चारित्रं परित्यज्य स्वीकृता कुलिङ्गिना क्रिया ॥ १९४ ॥

१ [illegible]

गृहीत्वा चीवरं दण्डं भिक्षापात्रं च कंबलम् ।
भिक्षाशनं समानीय स्थावासे भुज्यते सदा ॥ १९५ ॥
कियत्काले गतेऽप्येवं जाता सुभिक्षता तत ।
भणितं संघमाहूय शान्तिना गणधारिणा ॥ १९६ ॥
त्यजध्वं कुत्सिताचारं भजध्वं शुद्धसद्व्रतम् ।
कुरुध्वं गर्हणं निन्दां गृह्णीध्वं सद्व्रतं पुनः ॥ १९७ ॥
आकर्ण्येत्यग्रजः शिष्यो जिनचन्द्रो ब्रवीदिदम् ।
नो शक्यतेऽधुना धर्तुं जिनैरात्तोरितं व्रतम् ॥ १९८ ॥
ब्रह्मचर्यमचेलत्वं नग्नत्वं स्थितिभोजनम् ।
भूतले शयनं मौनं द्विमासं केशलुञ्चनम् ॥ १९९ ॥
एकस्थानमलाभत्वं सर्वाङ्गमलधारणम् ।
असह्यान्यन्तरायाणि भिक्षानियतकालिकी ॥ २०० ॥
न शक्या मनसा सोढुं द्वाविंशतिपरीषहाः ।
इत्याद्यनेकधा दुःसममधुना केन सह्यते ॥ २०१ ॥
इदानींतनमाचारं सुखसाध्यं न शक्यते ।
तत्परित्यक्तुमस्माभिस्तस्मान्मौनं भजस्व हि ॥ २०२ ॥
ततोऽभाणि गणी नैवं सुन्दरं यत्त्वयोदितम् ।
स्वोदरपूर्तये हेतुर्नो हेतुर्मोक्षसाधने ॥ २०३ ॥
तद्रोषात्पापिना मूर्ध्नि हत्वा दण्डेन मारितः ।
मृत्वा चैत्यगृहे तस्मिन्नाचार्यो व्यंतरोऽभवत् ॥ २०४ ॥
ततः शिष्यमुख्यं यावत्स्वयं भूत्वा गणाग्रणीः ।
तावद्दिशार्था पुनर्दातुं प्रारेभे व्यन्तरामरः ॥ २०५ ॥

१ स्थावासे ख. । २ तावद्दिशे ख. ।

मौनेन तस्य गान्धर्यं काष्ठमष्टांगुलायतम् ।
चतुरस्रं च स एवायमिति संकल्प्य पूजितः ॥ २०६ ॥
श्वेताम्बरैः परिस्थाप्य समर्चितो यथाविधि ।
ततस्तेन परित्यक्तं चेष्टितं विक्रियात्मकम् ॥ २०७ ॥
समभूत् कुलदेवोऽसौ पर्युपासनमंत्रकः ।
अद्यापि जलगन्धाद्यैः प्रपूज्यतेऽतिभक्तितः ॥ २०८ ॥
अन्तरे श्वेतवस्त्रं धृत्वा तस्यार्चनं कृतम् ।
तस्मादभूदिदं लोके श्वेताम्बरमताभिधम् ॥ २०९ ॥
समुत्पन्नेऽपि कैवल्ये भुनक्ति केवली जिनः ।
नारीणां तद्भवे मोक्षः साधूनां ग्रन्थसंयुजाम् ॥ २१० ॥
ईदृशं शास्त्रसंदोहं विपरीतं जिनोक्तितः ।
संविधाय वदत्येष गुरुद्रोही निरंकुशः ॥ २११ ॥
यस्यानन्तसुखं तस्य नास्त्याहारप्रसंगता ।
यद्यस्त्यनन्तसौख्यानां व्याघातो जायते ध्रुवम् ॥ २१२ ॥
नास्ति क्षुधा विनाहारः क्षुन्मुख्या दोषसंहतिः ।
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य सदोषत्वं प्रसज्यते ॥ २१३ ॥
वेदनीयस्य सद्भावे बुभुक्षाद्यं प्रजायते ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिर्न भवेद्दोषकारिणी ॥ २१४ ॥
दग्धरज्जुसमं वेद्यं स्वशक्तिपरिवर्जितम् ।
असमर्थं स्वकार्यस्य कर्तृत्वे क्षीणमोहिनि ॥ २१५ ॥
मोहमूलं भवेद्वेद्यं मोहविच्छेदमीयुषि ।
तद्धेतोर्निष्फलं वेद्यं छिन्नमूलतरुर्यथा ॥ २१६ ॥

बुभुक्षा भोक्तुमिच्छा स्यादिच्छापि मोहजा स्मृता ।
तत्क्षये वीतरागस्य भोजनेनात् स्यात्सदोषता ॥ २१७ ॥

तद्यथा—

अक्षार्थेषु विरक्तस्य गुप्तित्रयोपसंयुजः ।
साधोः सम्पद्यते ध्यानं निश्चलं कर्मणां रिपुः ॥ २१८ ॥
ध्यानात्समरसीभावस्तस्मात्स्वात्मन्यवस्थितिः ।
ततस्तु कुरुते नूनं निःशेषं मोहसंक्षयम् ॥ २१९ ॥
भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा शुक्लध्याने द्वितीयके ।
स्थित्वा घातिक्षयं कृत्वा केवली प्रभवत्यसौ ॥ २२० ॥
दशाष्टदोषनिर्मुक्तो लोकालोकप्रकाशकः ।
अनन्तसुखसंपन्नः कथं भुनक्ति केवली ॥ २२१ ॥
सन्ति क्षुधादयो दोषाः कियन्तश्चेज्जिनेशिनि ।
निर्दोषो वीतरागोऽसौ परमात्मा कथं भवेत् ॥ २२२ ॥
अर्थादासीन्ययुक्तानां साधूनां भोजनादिकम् ।
कुर्वतां वीतरागत्वं सर्वेषां सम्मतं सताम् ॥ २२३ ॥
मिथ्यात्वज्वरसम्पन्नतीव्रदाघरतामयम् ।
प्रलापस्तूपचारेण वीतरागा क्षमी यतः ॥ २२४ ॥
विनाहारं न च क्वापि दृश्यतेऽत्र तनुस्थितिः ।
तस्मात्केवलिभिर्नूनमाहारो गृह्यते सदा ॥ २२५ ॥
नोकर्मकर्मनामा च लेपाहारोऽथ मानसः ।
ओजश्च कवलाहारश्चेत्याहारो हि षड्विधः ॥ २२६ ॥

---

१ भोजनं ख. । २ संयुत ख. । ३ तृतीयके ग. । ४ चरित्रं इत्यत्र ग. ।

एवमनेकधाहारो देहस्य स्थितिकारणम् ।
तन्मध्ये कवलाहारो वान्यो देहस्थितौ भवेत् ॥ २२७ ॥
नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः ।
देहस्थितिर्भवत्येतदस्माकमपि सम्मतम् ॥ २२८ ॥
आहोस्वित्कवलाहारपूर्विका स्यात्तनुस्थितिः ।
त्वयैवं भण्यते तत्र प्रसिद्धा व्यभिचारिता ॥ २२९ ॥
एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते ।
आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि ॥ २३० ॥
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका ।
देहस्थितिर्न वक्तव्या त्वया स्वप्नेऽपि दुर्मते ! ॥ २३१ ॥
एकादश जिने सन्ति क्षुधाद्याः परीषहाः ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिरनिवार्या भवादृशैः ॥ २३२ ॥
किमेवं क्रियते मूढ ! पुनश्चर्वितचर्वणम् ।
क्षुत्पिपासादयो दोषा यस्मात्पूर्वं निराकृताः ॥ २३३ ॥
क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न समर्था मोहसंक्षये ।
द्रव्यकर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः ॥ २३४ ॥
अस्तु वा तस्य वेद्योत्थबुभुक्षाया विचारणा ।
अनेकजीवहिंसाढ्यं पश्यन् भुंक्ते कथं जिनः ॥ २३५ ॥
यस्माच्छुद्धमशुद्धं वा स्वल्पज्ञानयुता जनाः ।
कुर्वन्ति भोजनं तद्वत् केवली कुरुते कथम् ॥ २३६ ॥

---

१ अस्याग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके । उक्तं चान्यत्र—
णोकम्म तित्थयरे कम्म णारये माणसो अमरे ।
णरपसुकवलाहारो पक्खी ओजो णगे लेओ ॥ १ ॥
२ भुंक्ते ख. ।

अन्तरायान् विना तस्य प्रवृत्तिर्भोजने यदि ।
श्रावकेभ्योऽतिनीचत्वं निन्दास्पदं प्रजायते ॥ २३७ ॥
करोति चान्तरायांश्च दृष्टे चायोग्यवस्तुनि ।
तदा सर्वज्ञभावस्य दत्तस्तेन जलाञ्जलिः ॥ २३८ ॥
तथापि कवलाहारं ये वदन्ति जिनेशिनः ।
गुरास्वादमदोन्मत्ता जल्पन्ति घूर्णिता इव ॥ २३९ ॥

इति[1] केवलिभुक्तिनिराकरणम् ।

अथ स्त्रीणां भवे तस्मिन् मोक्षोऽस्तीति वदन्ति ये ।
ते भवन्ति महामोहग्रहग्रस्ता जना इव ॥ २४० ॥
यद्यपि कुरुते नारी तपोऽप्यत्यन्तदुःसहम् ।
तथापि तद्भवे तस्या मोक्षो दूरतरो हि सः ॥ २४१ ॥
तस्या जीवो न किं जीवो जीवमात्रोऽथवा स्मृतः ।
मोक्षावाप्तिर्न जायेत नारीणां केन हेतुना ॥ २४२ ॥
जीवसामान्यतो मुक्तिर्यद्यस्ति चेत्प्रजायताम् ।
मातंगिन्याद्यशेषाणां नारीणामविशेषतः ॥ २४३ ॥
सर्वदाशुद्धता योनौ गलन्मलाश्रयत्वतः ।
रजःस्खलनमेतासां मासं प्रति प्रजायते ॥ २४४ ॥
उत्पद्यन्ते सदा स्त्रीणां योनौ कक्षादिसन्धिषु ।
सूक्ष्मापर्याप्तका मर्त्यास्तद्देहस्य स्वभावतः ॥ २४५ ॥
स्वभावः कुत्सितस्तासां लिंग चात्यन्तकुत्सितम् ।
तस्मान्न प्राप्यते साक्षाद्रेषा संयमभावना ॥ २४६ ॥

---

[1] इति ख-पुस्तके नास्ति ।

एवमनेकधाहारो देहस्य स्थितिकारणम् ।
तन्मध्ये कवलाहारो वान्यो देहस्थितौ भवेत् ॥ २२७ ॥
नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः ।
देहस्थितिर्भवत्येतदस्माकमपि सम्मतम् ॥ २२८ ॥
आहोस्वित्कवलाहारपूर्विका स्यात्तनुस्थितिः ।
त्वयैवं भण्यते तत्र प्रसिद्धा व्यभिचारिता ॥ २२९ ॥
एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते ।
आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि ॥ २३० ॥
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका ।
देहस्थितिर्न वक्तव्या त्वया स्वप्नेऽपि दुर्मते ! ॥ २३१ ॥
एकादश जिने सन्ति बुभुक्षाद्याः परीषहाः ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिरनिवार्या भवादृशैः ॥ २३२ ॥
किमेवं क्रियते मूढ ! पुनश्चर्वितचर्वणम् ।
क्षुत्पिपासादयो दोषा यस्मात्पूर्वं निराकृताः ॥ २३३ ॥
क्षुत्पिपासादयो यस्मात्र समर्था मोहसंक्षये ।
द्रव्यकर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः ॥ २३४ ॥
अस्तु वा तस्य वेद्योत्थबुभुक्षाया विचारणा ।
अनेकजीवहिंसाद्यं पश्यन् भुंक्ते कथं जिनः ॥ २३५ ॥
यस्माच्छुद्धमशुद्धं वा स्वल्पज्ञानयुता जनाः ।
कुर्वन्ति भोजनं तद्वत् केवली कुरुते कथम् ॥ २३६ ॥

---

१ अन्यत्रैवं पाठः अ-पुस्तके । उक्तं चान्यत्र—
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारेय माणसो अमरे ।
णरपसुकवलाहारो पक्खी ओज्जो णगे लेओ ॥ १ ॥
२ देवे ब. ।

एवमनेकधाहारो देहस्य स्थितिकारणम् ।
तन्मध्ये कवलाहारो चान्यो देहस्थितौ भवेत् ॥ २२७ ॥
नोकर्मकर्मनामानमाहारं गृह्णतोऽर्हतः ।
देहस्थितिर्भवत्येनदस्माकमपि सम्मतम् ॥ २२८ ॥
आहोस्वित्कवलाहारपूर्विका स्यात्तनुस्थितिः ।
स्वयैवं भण्यते तत्र प्रसिद्धा व्यभिचारिता ॥ २२९ ॥
एकेन्द्रियेषु जीवेषु लेपाहारः प्रजायते ।
आहारो मानसो देवसमूहेष्वखिलेष्वपि ॥ २३० ॥
इति हेतोर्जिनेन्द्रस्य कवलाहारपूर्विका ।
देहस्थितिर्न वक्तव्या त्वया स्वप्नेऽपि दुर्मते ! ॥ २३१
एकादश जिने सन्ति बुभुक्षाद्याः परीषहाः ।
तस्मात्केवलिनां भुक्तिरनिवार्या भवादृशैः ॥ २३२ ॥
किमेवं क्रियते मूढ ! पुनश्चर्वितचर्वणम् ।
क्षुत्पिपासादयो दोषा यस्मात्पूर्वं निराकृताः ॥ २३३ ॥
क्षुत्पिपासादयो यस्मान्न समर्था मोहसंक्षये ।
द्रव्यकर्माश्रयात्तेषामस्तित्वमुपचारतः ॥ २३४ ॥
अस्तु वा तस्य वेद्योत्थबुभुक्षाया विचारणा ।
अनेकजीवहिंसाद्यं पश्यन् भुंक्ते कथं जिनः ॥ २३५ ॥
यस्माच्छुद्धमशुद्धं वा स्वल्पज्ञानयुता जनाः ।
कुर्वन्ति भोजनं तद्वन् केवली कुरुते कथम् ॥ २३६ ॥

---

१ अस्याग्रेऽयं पाठः ख-पुस्तके । उक्तं चान्यत्र—
णोकम्मं तित्थयरे कम्मं णारय माणसो अमरे ।
णरपसुकवलाहारो पक्खी ओजो णगे लेवो ॥ १ ॥
२ देहे ख. ।

लिंगायूकाश्रयस्थाने वस्त्रादीनां परिग्रहः ।
तस्यादानविनिक्षेपात् क्षालनादङ्गिनां वधः ॥ २५६ ॥
वस्त्रयाचनया दैन्यं प्राप्तौ व्यामोहता भवेत् ।
तस्मात्संयमहानिः स्यान्निर्मलत्वं च दूरगम् ॥ २५७ ॥
ततोऽन्तर्बाह्यभेदाभ्यां ग्रन्थाभ्यां परिवर्जितम् ।
जिनेन्द्रकथितं लिंगं सम्यक्त्वं तस्य भावना ॥ २५८ ॥
मसम्यक्त्वस्य जीवस्य चारित्रं मोक्षसाधकम् ।
तस्मान्निर्ग्रन्थ्यतायुक्तं जिनलिंगं प्रशस्यते ॥ २५९ ॥
संयमोऽयं हि दुःसाध्यो जिनकल्पात्मिकोऽधुना ।
ततः स्थविरकल्पस्य वृत्तमस्माभिराश्रितम् ॥ २६० ॥
जिनकल्पोऽस्ति दुःसाध्यः सर्वसंगपरिच्युतः ।
तस्मात्त्वयैव नैर्ग्रन्थ्यं प्रमाणीकृतमञ्जसा ॥ २६१ ॥
नैवं परिग्रहाः सन्ति कल्पे स्थविरसंज्ञके ।
तस्याश्रयेऽपि तद्वाक्यं त्वयैव विफलीकृतम् ॥ २६२ ॥
अथैतत्कथ्यते वृत्तं जिनकल्पाभिधानकम् ।
यस्मान्मुक्तिवधूसंगो भव्यानां जायते ध्रुवम् ॥ २६३ ॥
शुद्धसम्यक्त्वसंयुक्ता विजिताक्षकषायकाः ।
श्रुतमेकादशाङ्गं ये जानन्त्येकाक्षरं यथा ॥ २६४ ॥
पादयोः कण्टकं लग्नं नेत्रयो रजसंगमे ।
स्वयं नापनयन्त्यन्यैः स्फेटिते मौनधारणम् ॥ २६५ ॥
आद्यसंहननोपेताः संततं मौनधारिणः ।
गुहायां पर्वतेऽरण्ये वसन्ति निम्नगातटे ॥ २६६ ॥

१ वस्त्रादिपरिग्रहस्य । २ भग्नं. ख. ।

उत्कृष्टगोत्रं मुक्त्या गुणस्थाने न योग्यता ।
नो मुक्तिस्त्रिया तन्मात्रागानां योग्यतेति दृशः ॥ २४७ ॥
गमनं नरके यत्नं तत्स्त्रीणां न विद्यते ।
आद्यसंहननाभावान्मुक्तिस्त्रीणां कुतस्तनी ॥ २४८ ॥
मोक्षस्यात्यन्तविज्ञा नहि संहननभूषिता ।
अतोः प्रतिष्ठिताः क्वापि विद्यन्ते नेन्द्रकल्पगाम् ॥ २४९ ॥
न सन्ति चेन्द्रतामाप्ताः सन्ति नेन्द्रादिसम्पदम् ।
एवं दोषद्वयासंगान्मोक्षो न घटते स्त्रियः ॥ २५० ॥
कुलीनः संयमी धीरो निःसंगो विजितेन्द्रियः ।
संप्राप्नोति पुमानेव मुक्तिकान्तासमागमम् ॥ २५१ ॥

इति स्त्रीमुक्तिनिराकरणम् ।

मुक्त्वा निर्ग्रन्थसन्मार्गं मोक्षैकसाधनं नृणाम् ।
सग्रन्थत्वेन मोक्षोऽस्ति प्रवदन्तीति दुर्द्धियः ॥ २५२ ॥
सग्रन्थत्वेन मोक्षस्य यद्यस्ति साधनं परम् ।
आदीश्वरेण साम्राज्यं राज्यं त्यक्तं कथं वद ॥ २५३ ॥
आद्यसंहननोपेतः कुलजोऽपि न सिद्ध्यति ।
विना निर्ग्रन्थलिंगेन नरः सर्वांगसुन्दरः ॥ २५४ ॥
न क्षेवं चीवरं दण्डं भिक्षापात्रादिसंयुतम् ।
इत्युपकरणं साधु गृह्यते मोक्षकाम्यया ॥ २५५ ॥

१–२४७ तमश्लोकस्योत्तरार्द्धं २४८ तम श्लोकस्य पूर्वार्द्धं ख–पुस्तकान्नास्ति।
२ मुक्त्वा निर्ग्रन्थसन्मार्गं इत्यादि श्लोकादुत्तरं 'श्रीनिर्वाणनिराकरणं।' इति पाठः क–पुस्तके ।

मिथ्यात्वालंबनापाकात् प्रयान्ति नारकीं गतिम् ।
यत्रास्ति दुःखमत्युग्रमन्योन्योदीरितं महत् ॥ २८६ ॥
तस्मान्निर्गत्य तैरश्चीं गतिं प्राप्यानुभूयते ।
भारातिवाहनाद्यं यद्भीमं दुःखमनेकधा ॥ २८७ ॥
कथंचिन्मानुषं जन्म प्राप्तं तत्रापि सज्जने ।
अर्थार्जनविहीनत्वाद्दुःखं स्योदरपूर्तये ॥ २८८ ॥
काकतालीयकन्यायाद्गतिर्दैवी समाप्यते ।
तत्रास्ति मानसं दुःखं हीनाधिकविभूतितः ॥ २८९ ॥
एवमनेकधा दुःखं दुःखं दुःखं पुनः पुनः ।
ततो मिथ्यात्वमुत्सृज्य सम्यक्त्वे भावनां कुरु ॥ २९० ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यादृष्ट्यभिधानकम् ।
नोपादेयमिदं सर्वं मिथ्यात्वविषदोषतः ॥ २९१ ॥

इति[२] प्रथमं मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ।

अतः सासादनं नाम गुणस्थानद्वितीयकम् ।
निगद्यतेऽत्र मुख्यो हि भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ २९२ ॥
सम्यक्त्वासादने नाम वर्तनं यस्य विद्यते ।
सासादन इति प्राहुर्मुनयो भाववेदिनः ॥ २९३ ॥
अनादिकालसंभूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम सम्यक्त्वमादिमं हि तत् ॥ २९४ ॥
संत्यज्य वेदकं याति प्रशान्तारिमकयां दृशम् ।
गत्वा वा सादिमिथ्यात्वं द्वितीया सा दृगुच्यते ॥ २९५ ॥

---

१ मुर्त. ख. । २ अयं पाठः ख–पुस्तके २९२ श्लोकादुत्तरं । स च 'इत्याद्य-मिथ्यात्वं गुणस्थानं प्रथमं' इत्येवं रूपः । ३ मिति. ख. । ४ प्रशान्तारिमकयोर्दृशं क।

आद्योपशमसम्यक्त्वात् प्रच्युतो याति वामताम् ।
च्युतोऽथवा द्वितीयं स्यान्मिथ्यात्वं याति वा न वा ॥२९६॥

द्विकलम्—

आद्योपशमसम्यक्त्वरत्नाद्रेर्वा परिच्युत ।
एकतरोदये जाते मध्येऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥ २९७ ॥

समयादावलीषट्कं कालं यावन्न गच्छति ।
मिथ्यात्वभूतलं जीवस्तावत्सासादनो भवेत् ॥ २९८ ॥

अपूर्णस्वभ्रजीवेषु लब्ध्यपर्याप्तजन्तुषु ।
सर्वेष्वपि न जायेत सासादनो विनिश्चितम् ॥ २९९ ॥

आहारकद्वयं तीर्थकर्तृत्वनामकर्म च ।
सासादनो न बध्नाति सम्यक्त्वस्य विराधनात् ॥ ३०० ॥

भव्यस्योदयता तस्य सम्यक्त्वग्रहणादिदुः ।
तद्ग्रहणस्य सामर्थ्यात्कियत्कालेन सिद्ध्यति ॥ ३०१ ॥

पश्य सम्यक्त्वमाहात्म्यं कियत्कालात्तिसंभवम् ।
ततोऽत्र भावना भव्य ! कर्तव्याहर्निशं त्वया ॥ ३०२॥

सासादनगुणस्थानं व्यवहारात्प्रकथ्यते ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥ ३०३ ॥

इति[3] द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।

---

१ द्वितीयसम्यक् क. । २ श्लोकोऽयं ख-पुस्तके नास्ति । ३ 'सासादनगुणस्थानं द्वितीयं' इति ख-पाठः ।

मिथ्यात्वालंबनापाकात् प्रयान्ति नारकीं गतिम् ।
यत्रास्ति दुःखमत्युग्रमन्योन्योदीरितं महत् ॥ २८६ ॥
तस्मान्निर्गत्य तैरश्चीं गतिं प्राप्यानुभूयते ।
भारातिवाहनाद्यं यद्भीमं दुःखमनेकधा ॥ २८७ ॥
कथंचिन्मानुषं जन्म प्राप्तं तत्रापि मद्यते ।
अर्थार्जनविहीनत्वाद्दुःखं स्वोदरपूर्तये ॥ २८८ ॥
काकतालीयकन्यायाद्गतिर्दैवी समाप्यते ।
तत्रास्ति मानसं दुःखं हीनाधिकविभूतितः ॥ २८९ ॥
एवमनेकधा दुःखं दुःखं दुःखं पुनः पुनः ।
ततो मिथ्यात्वमुत्सृज्य सम्यक्त्वे भावनां कुरु ॥ २९० ॥
इत्येवं पंचधा प्रोक्तं मिथ्यादृष्टयभिधानकम् ।
नोपादेयमिदं सर्वं मिथ्यात्वविषदीपत ॥ २९१ ॥

इति[1] प्रथमं मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ।

अतः सासादनं नाम गुणस्थानद्वितीयकम् ।
निगद्यतेऽत्र मुख्यो हि भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ २९२ ॥
सम्यक्त्वासादने नाम वर्तनं यस्य विद्यते ।
सासादन इति प्राहुर्मुनयो भाववेदिनः ॥ २९३ ॥
अनादिकालसंभूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः ।
स्यादौपशमिकं नाम सम्यक्त्वमादिमं हि सत् ॥ २९४ ॥
संन्यस्य वेदकं याति प्रशान्तात्मिकयो दशाम् ।
गत्वा वा सादिमिथ्यात्वं द्वितीया सा दृगुच्यते ॥ २९५ ॥

---

१ मुद्रि. ख.। २ अथ वा: स–पुस्तके २९२ श्लोकादुपरि। ग घ 'इत्यनादि-मिथ्यात्व गुणस्थानं प्रथमं' इत्येवं ख ग.। ३ मि [illegible] ग । ४ [illegible]

आद्योपशमसम्यक्त्वात् प्रच्युतो याति वामताम् ।
च्युतोऽथवा द्वितीयं स्यान्मिथ्यात्वं याति वा न वा ॥२९६॥

द्विकलम्[1]—

आद्योपशमसम्यक्त्वरत्नाद्रेर्वा परिच्युतः ।
एकतरोदये जाते मध्येऽनन्तानुबन्धिनाम् ॥ २९७ ॥
समयादावलीषट्कं कालं यावन्न गच्छति ।
मिथ्यात्वभूतलं जीवस्तावत्सासादनो भवेत् ॥ २९८ ॥
अपूर्णस्वभ्रजीवेषु लब्ध्यपर्याप्तजन्तुषु ।
सर्वेष्वपि न जायेत सासादनो विनिश्चितम् ॥ २९९ ॥
आहारकद्वयं तीर्थकर्तृत्वनामकर्म च ।
सासादनो न बध्नाति सम्यक्त्वस्य विराधनात् ॥ ३०० ॥
भव्यत्वोदयता तस्य सम्यक्त्वग्रहणाद्विदुः ।
तद्ग्रहणस्य सामर्थ्यात्कियत्कालेन सिद्ध्यति ॥ ३०१ ॥
पश्य सम्यक्त्वमाहात्म्यं कियत्कालाप्तिसंभवम् ।
ततोऽत्र भावना भव्य ! कर्तव्याहर्निशं त्वया ॥ ३०२ ॥
सासादनगुणस्थानं व्यवहारात्प्ररूप्यते ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥ ३०३ ॥

इति[3] द्वितीयं सासादनं गुणस्थानम् ।

---

१ द्विकलमद् क. । २ श्लोकाऽयं अ-पुस्तके नास्ति । ३ 'सासादनगुणस्थानं द्वितीयं' इति ख-पाठः ।

अथ मिश्रगुणस्थानं प्ररूप्यते यथागमम् ।
क्षायोपशमिको भावो मुख्यत्वेनेह जायते ॥ २०४ ॥
मिश्रकर्मोदयाज्जीवे पर्यायः सर्वघातिजः ।
न सम्यक्त्वं न मिथ्यात्वं भावोऽसौ मिश्र उच्यते ॥२०५॥
अहिंसालक्षणो धर्मो यज्ञादिलक्षणोऽन्यथा ।
मन्यते समभावेन मिश्रकर्मविपाकतः ॥ २०६ ॥
जिनोक्तिं मन्यते यद्वदन्योक्तिं मन्यते तथा ।
देवे दोषोज्झिते भक्तिस्तथैव दोषसंयुते ॥ २०७ ॥
निर्ग्रन्था यतयो वन्द्यास्तथैव द्विजतापसाः ।
यस्यैवं जायते बुद्धिर्मिश्रं स्याद्गुणास्पदम् ॥ २०८ ॥
गोदुग्धे शाकदुग्धे वा समतादिकबुद्धयः ।
हेयोपादेयतत्त्वेषु यथैव विकलाशयाः ॥ २०९ ॥
जैनमार्गो यदन्येषां [illegible] कुलदेवताः ।
चण्डिकागणपालाद्या महालक्ष्मी[illegible] ॥ २१० ॥
अर्चन्ति परया भक्त्या प्रणमन्ति तदग्रतः ।
चण्डिकाद्यमहामोहाज्ञा[illegible]कृतचेतसः ॥ २११ ॥
मोहान्धैः क्रियते श्राद्धं पितॄणां तृप्तिहेतवे ।
अज्ञानेन [illegible] ॥ २१२ ॥
इत्येवदर्शनं सर्वं मिश्रभावसमाश्रितम् ।
येषां ते मिश्रभावाढ्या भ्रमन्ति [illegible] ॥ २१३ ॥
[illegible] ।
[illegible] मिश्र [illegible] न हि ॥२१४॥

[illegible]

अक्षेषु विरतो नैव न स्थावरे त्रसादिषु ।
द्वितीयानां कषायाणां विपाकादव्रतो यतः ॥ ३२४ ॥
श्रद्धानं कुरुते भव्यो ह्याज्ञयाधिगमेन वा ।
द्रव्यादीनां यथाम्नायं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥ ३२५ ॥
परिच्छित्तौ पदार्थानां हर्षोल्लसितचेतसि ।
या रुचिर्जायते साध्वी तच्छ्रद्धानमिति स्मृतम् ॥ ३२६ ॥
आप्तागमयतीशानां तत्त्वानामल्पबुद्धितः ।
जिनाज्ञयैव विश्वासो भवत्याज्ञा हि सा परा ॥ ३२७ ॥
घातिकर्मक्षयोद्भूतकेवलज्ञानरश्मिभिः ।
प्रकाशकः पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ॥ ३२८ ॥
सर्वज्ञः सर्वतो व्यापी त्यक्तदोषो ह्यवंचकः ।
देवदेवेन्द्रवन्द्यांह्रिराप्तोऽर्सौ परिकीर्तितः ॥ ३२९ ॥
पूर्वापरविरुद्धात्मदोषसंघातवर्जितः ।
यथावद्वस्तुनिर्णीतिर्यत्र स्यादागमो हि सः ॥ ३३० ॥
विराजतेऽष्टविंशत्या शुद्धैर्मूलगुणैः सदा ।
भेदाभेदनयाक्रान्तो रत्नत्रयविभूषणः ॥ ३३१ ॥
ऐहिकाशापरित्यक्तो धर्मशास्त्रार्थतत्परः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्तो दशधर्मसमन्वितः ॥ ३३२ ॥
निःशल्यो निरहंकारः परिग्रहपरिच्युतः ।
पक्षपातोज्झितः शान्तः स मुनिर्वन्द्यते मया ॥ ३३३ ॥
सूक्ष्मे जिनोदिते तत्त्वे नास्ति चेन्महती मतिः ।
आप्तोदितं यथाम्नायं श्रद्धानं क्रियते तथा ॥ ३३४ ॥

---

१ विरोधो नैव विद्यते ख. । २ श्रद्धातव्यं मनीषिभिः ख. ।

एवमाज्ञागमो भावः प्ररूपितः समासतः ।
अतोऽधिगमभावस्य लक्षणं कथ्यते यथा ॥ ३३५ ॥
निर्धार्यते पदार्थानां लक्षणं नयभेदतः ।
सोऽधिगमोऽभिमन्तव्यः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः ॥ ३३६ ॥
द्रव्याणि षट्प्रकाराणि जीवोऽथ पुद्गलस्तथा ।
धर्माधर्मनभःकाला अतस्तेषां प्ररूपणम् ॥ ३३७ ॥
जीवो हि सोपयोगात्मा कर्ता भोक्ता तनुप्रमः ।
स्वभावेनोर्ध्वगोऽमूर्तः संसारी सिद्धिनायकः ॥ ३३८ ॥
जीवितो दशभिः प्राणैर्जीविष्यति च जीवति ।
स जीवः कथ्यते सद्भिर्जीवतत्त्वविदां वरैः ॥ ३३९ ॥
अन्तर्भावो हि चैतन्यं उपयोगः स च द्विधा ।
साकारोऽनिराकारो ज्ञानदर्शनभेदतः ॥ ३४० ॥
उपयोगो हि साकारो ज्ञानलक्षणलक्षितः ।
स चाष्टधा भवेन्मिथ्यासम्यग्ज्ञानप्रभेदतः ॥ ३४१ ॥
कुमतिः कुश्रुतज्ञानं विभङ्गाख्योऽवधिस्तथा ।
अज्ञानत्रितयं चेति मिथ्याकर्मफलोद्भवम् ॥ ३४२ ॥
मतिः श्रुतावधी स्यान्तः केवलं चेति पंचधाः ।
सम्यग्ज्ञानं भवेत्तस्य वर्तनं स्वार्थगोचरम् ॥ ३४३ ॥
स्याद्दर्शनोपयोगस्तु चतुर्भेदमुपागतः ।
निराकारो हि तस्यास्ति स्थितिरान्तर्मुहूर्तिकी ॥ ३४४ ॥

---

१ समासतः ख । २ नय. ख. । ३ अस्मादग्रे ज्ञानोपयोगः साकारः, दर्शनोपयोगोऽनाकारः स चोपयोगलक्षण पुस्तकद्वयेऽस्य पाठः ।

परमात्मा द्विधा सूत्रे सकलो निकलः स्मृतः ।
सकलो भण्यते सद्भिः केवली जिनसत्तम. ॥ ३५६ ॥
निष्कलो मुक्तिकान्तेशश्चिदानन्दैकलक्षण ।
अनंतगुणसंपूर्णः कर्माष्टकविवर्जितः ॥ ३५७ ॥

जीवः ।

वर्णमेकं रसं गन्धं स्पर्शयुग्मं च यादत्ते ।
पुद्गलाणुः परः प्रोक्तो गलनपूरणात्मकः ॥ ३५८ ॥
द्व्यणुकादिविभेदेन स्निग्धरूक्षत्वसंश्रयात् ।
चयोन्योन्यं भवेत्तेषां वृद्धिरुत्पादनेकधा ॥ ३५९ ॥
शब्दो बन्धस्तमश्छाया सूक्ष्मस्थौल्यातपद्युति ।
भेदसंस्थानमित्येते पर्यायास्तस्य कीर्तिता ॥ ३६० ॥
पृथ्वी तोयं यथा छाया चाक्षुषो नाक्षगोचरः ।
कर्माणि परमाण्वन्तं तेषां सौक्ष्म्यं यथोत्तरम् ॥ ३६१ ॥
स्थूलस्थूलं तथा स्थूलं स्थूलसूक्ष्मास्ततः परम् ।
सूक्ष्मस्थूलाश्च सूक्ष्माणि सूक्ष्मसूक्ष्मा इति क्रमात् ॥ ३६२ ॥

पुद्गलः ।

गतिहेतुर्भवेद्धर्मो जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
यथोदकं हि मत्स्यानां सन्निष्टतोस्तथा न सः ॥ ३६३ ॥

धर्मः ।

अधर्मः स्थितिदानाय हेतुर्भवति तद्द्वयोः ।
पथिकानां यथा छाया गच्छतोः स न धारकः ॥६६४॥

---

१ अयं पाठः क-पुस्तके नास्ति । २ सूक्ष्मो. ख. ।

अधर्मः ।

द्रव्याणामवगाहस्य योग्यं यत्तन्नभो भवेत् ।
लोकाकाशमलोकाख्यमाकाशमिति तद्द्विधा ॥ ३६५ ॥

आकाशः ।

वर्णगन्धादिनिर्मुक्ता असंख्याता मुनिश्चलाः ।
वर्तनालक्षणोपेता जीवपुद्गलयोः परम् ॥ ३६६ ॥
तिष्ठन्त्येकैकरूपेण लोकाकाशप्रदेशकान् ।
व्याप्य कालाणवो मुख्याः प्रत्येकं रत्नराशिवत् ॥ ३६७ ॥
परिणामः पदार्थानां कालास्तित्वप्रसादकः ।
अन्यथा नवजीर्णादिपर्यायज्ञानता कथम् ॥ ३६८ ॥
नोपचारो विना मुख्यं नरसिंहोपचारवत् ।
तथोपचारमाश्रित्य कालोऽस्ति व्यावहारिकः ॥ ३६९ ॥
मुख्यकालस्य पर्यायः समयादिस्वरूपवान् ।
व्यवहारो मतः कालः कालज्ञानप्रवेदिनाम् ॥ ३७० ॥
तं कालाणुं समुल्लंघ्य मंदं गच्छति पुद्गलः ।
यावता कालमात्रेण स कालः समयात्मकः ॥ ३७१ ॥
तस्मादावलिपूर्वा ये मुहूर्ताद्याश्च पर्ययाः ।
मर्त्यक्षेत्रे प्रवर्तन्ते भानोर्गतिवशाद्भुवि ॥ ३७२ ॥

कालः[3] ।

१–२–३ इमे शब्दाः क–पुस्तके न सन्ति ।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमन्दोदी वर्ण्यते पूर्वं ।
सप्तभंगीं समाश्रित्य स्याद्द्रव्यस्वभावत ॥ ३७३ ॥
सहभुवा गुणा ज्ञेयाः सुवर्णे पीतता यथा ।
क्रमभुवास्तु पर्यायाः जीवे गत्यादयो यथा ॥ ३७४ ॥
पर्यायाः प्रभवन्त्येते भेदद्वयसमाश्रिता ।
अर्थव्यञ्जनभेदाभ्यां वदन्तीति महर्षय ॥ ३७५ ॥
सूक्ष्मोऽवाग्गोचरो ज्ञेयः केवलज्ञानिनां स्वयम् ।
प्रतिक्षणं विनाशी स्यात् पर्यायो ह्यर्थसंज्ञिकः ॥ ३७६ ॥
स्थूलः कालान्तरस्थायी सामान्यज्ञानगोचरः ।
दृष्टिग्राह्यस्तु पर्यायो भवेद्व्यञ्जनसंज्ञकः ॥ ३७७ ॥
द्रव्याण्यनाद्यनन्तानि द्रव्यत्वेन भवन्त्यपि ।
ध्रौव्यव्ययसमुत्पत्तिस्वभावान्यनित्यान्यपि ३७८ ॥
कालत्रयानुयायित्वं यद्रूपं वस्तुनो भवेत् ।
तद्ध्रौव्यत्वमिति प्राहुर्वृषभाद्या गणाधिपाः ॥ ३७९ ॥
पूर्वाकारान्यथाभावो विनाशो वस्तुनः पुनः ।
अपूर्वाकारसंप्राप्तिरुत्पत्तिरिति कीर्त्यते ॥ ३८० ॥
स्वभावेतरपर्याया जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
विभावपर्यया न स्युः शेषद्रव्यचतुष्टये ॥ ३८१ ॥
कायत्वमस्ति पंचानां प्रदेशततिसंभवात् ।
नास्ति कालस्य कायत्वं प्रदेशतत्यसंभवात् ॥ ३८२ ॥
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशता ।
पुद्गलानां त्रिधा देशा नभोऽनन्तप्रदेशकम् ॥ ३८३ ॥
जीवाजीवास्रवा बन्धसंवरौ निर्जरा तथा ।
मोक्षश्चेति सुतत्त्वानि सप्त स्युर्जैनशासने ॥ ३८४ ॥

चेतनालक्षणो जीवोऽमूर्तोऽनाद्यविनाशकः ।
अजीवः पंचधा ज्ञेयः पुद्गलादिप्रभेदतः ॥ ३८५ ॥
भावास्रवो भवेज्जीवो मिथ्यात्वादिचतुष्टयात् ।
ततो द्रव्यास्रवो योऽसौ कर्माष्टकसमाश्रयः ॥ ३८६ ॥
बध्यते कर्म भावेन येन तद्भावबन्धनम् ।
जीवकर्मप्रदेशानामाश्लेषो द्रव्यबन्धनम् ॥ ३८७ ॥
स प्रकृतिप्रदेशाख्यस्थित्यनुभागभेदभाक् ।
योगद्वावादिमौ स्यातां कषायद्वौ तदुत्तरौ ॥ ३८८ ।
कर्मास्रवनिरोधात्मा चिद्भावो भावसंवरः ।
तद्रोधः कर्मसंरोधः स भवेद्द्रव्यसंवरः ॥ ३८९ ॥
हठात्कारस्वभावाभ्यां जायते कर्मनिर्जरा ।
अविपाका स्वपाकेति द्विविधा सा यथाक्रमम् ॥ ३९०
कर्मक्षयाय यो भावो भावमोक्षो भवत्यसौ ।
जायते द्रव्यमोक्षस्तु जीवकर्मपृथक्क्रिया ॥ ३९१ ॥
इत्येवं सप्ततत्वानि तान्येव प्रभवन्त्यपि ।
युक्तानि पुण्यपापाभ्यां पदार्था नव संस्मृताः ॥ ३९२
पुरोक्तलक्षणः जीवः सम्यक्त्वव्रतभूषितः ।
पुण्यं तद्विपरीतो यः स पापमिति कीर्त्यते ॥ ३९३ ॥
एवं द्रव्यादिसन्दोहे श्रद्धाने यथार्थतः ।
अनादिकर्मसम्बन्धविच्छित्तौ जायतेऽङ्गिनाम् ॥ ३९४
चतुर्गतिभवो भव्यः संज्ञी पूर्णः सुलेश्यकः ।
जागरी लब्धिमान् शुद्धो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति ॥ ३९५ ॥

घातकं तस्य चत्वारो ये चानन्तानुबन्धिनः ।
मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं चेति दृङ्मोहसप्तकम् ॥ ३९६ ॥
एतासां प्रकृतीनां तु सप्तानामुपशान्तितः ।
प्रोक्तौपशमिका दृष्टिः प्रशान्तपङ्कतोयवत् ॥ ३९७ ॥
सर्वासामपि चैतानां यः पाकाभावात्मकः क्षयः ।
सम्यक्त्वोपशमो यत्र क्षायोपशमिकं हि तत् ॥ ३९८ ॥
उदितानां क्षयं याता स्पर्धका सर्वघातकाः ।
शेषाः प्रशमिता सन्ति क्षायोपशमिकं ततः ॥ ३९९ ॥
वेद्यते चलागाढमालिन्येन पृथक् पृथक् ।
सम्यक्त्वप्रकृतेः पाकात् सम्यग्वेदकाह्वयम् ॥ ४०० ॥
एतत्संसारविच्छित्त्यै जायते देहिनां खलु ।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं निःशंकाद्यङ्गसंयुतम् ॥ ४०१ ॥
सूर्यार्घो वह्निसत्कारो गोमूत्रस्य निषेवणम् ।
गोपृष्ठान्तनमस्कारो भृगुपातादिसाधनम् ॥ ४०२ ॥
देहलीगेहरत्नाश्वगजशस्त्रादिपूजनम् ।
नदीह्रदसमुद्रेषु मज्जनं पुण्यहेतवे ॥ ४०३ ॥
संक्रान्तौ च तिलस्नानं दानं च ग्रहणादिषु ।
सन्ध्यायां मौनमित्यादि त्यज्यतां लोकमूढताम् ॥ ४०४ ॥
ऐहिकाशावशित्वेन कुत्सितो देवतागणः ।
पूज्यते भक्तितो यद्वै सा देवमूढता मता ॥ ४०५ ॥
दृष्ट्वा मंत्रादिसामर्थ्यं पापिपाषण्डचारिणाम् ।
उपास्तिः क्रियते तेषां सा स्यात्पाषण्डमूढता ॥ ४०६ ॥

[illegible] वपुः ।
[illegible] ॥ ४०७ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ४०८ ॥
[illegible] ।
[illegible] मता ॥ ४०९ ॥
इदमेवेदृशं [illegible] नान्यथा ।
इत्यकम्पा[1] [illegible] निःशंकाङ्गं[2] तदुच्यते ॥ ४१० ॥
संसारेन्द्रियभोगेषु सर्वेषु भङ्गुरात्मसु ।
निरीहभावना यत्र सा निष्कांक्षा स्मृता बुधैः ॥ ४११ ॥
स्वभावमलिने देहे रत्नत्रयपवित्रिते ।
जुगुप्सारहितो भावो सा ख्याता निर्विचिकित्सता ॥४१२॥
दोषदृष्टेषु[3] मार्गेषु तपस्विदेवतादिषु ।
निर्मं न मुह्यते क्वापि तदमूढत्वं निगद्यते ॥ ४१३ ॥
रत्नत्रयोपपन्नस्य जनस्य कस्यचित्क्वचित् ।
गोपनं प्रमाददोषस्य तदुक्तमुपगूहनम् ॥ ४१४ ॥
दर्शनाज्ज्ञानतो वृत्ताच्चलतां गृहमेधिनाम् ।
यतीनां स्थापनं तद्धि स्थितीकरणमुच्यते ॥ ४१५ ॥
रोगादिश्रमयातानां साधूनां गृहिणामपि ।
यथायोग्योपचारस्तद्वात्सल्यं धर्मकाम्यया ॥ ४१६ ॥
मिथ्यात्वतमस्त्वपाकृत्य सद्धर्मोद्योतनं परम् ।
क्रियते शक्तितो यद्वै सैषा प्रभावना मता ॥ ४१७ ॥

१ इत्यशंका. ख. २ निःशंकत्वं. । ३ दुष्टेषु. ख. । ४ दर्शनदूषणी ख. ।

एवमष्टाङ्गसंयुक्तं सम्यक्त्वं स्याच्छिवापदम् ।
साधकं सर्वकार्येषु मंत्रः पूर्णाक्षरो यथा ॥ ४१८ ॥
दृग्मोहक्षयसंभूतं यच्छ्रद्धानमनुत्तरं ।
भवेत्तत्क्षायिकं नित्यं कर्मसंघातघातकम् ॥ ४१९ ॥
नानायुक्तिभिर्दुर्वादैर्भीष्मरूपैश्च दुर्धरैः ।
विचाल्यते न वाल्येन तत्सम्यक्त्वं कदाचन ॥ ४२० ॥
क्षायिकदृष्टिरारम्भी केवलिक्रमसंनिधौ ।
कर्मक्ष्माजो नरस्तत्र कश्चिन्निष्ठापको भवेत् ॥ ४२१ ॥
लब्धमृत्युर्नरः कश्चिद्बद्धायुष्कः प्रगच्छति ।
यस्यां गतौ हि तत्रैव पूर्णतां कुरुते ध्रुवम् ॥ ४२२ ॥
इत्येवैनं संयुतः स्याद्भव्योऽसंयमाह्वय ।
द्वितीयानां कषायाणामुदयाद्यतो हि सः ॥ ४२३ ॥
प्रशमास्तिक्यसंवेगाः सहानुकम्पया गुणाः ।
विद्यन्ते हृदये यस्य स स्यात्सम्यक्त्वभूषितः ॥ ४२४ ॥
सतस्तु व्रतहीनोऽपि प्राणिघाताय नोद्यमी ।
प्राणिघातनशीलः स्यात्सम्यक्त्वस्यातिदूरगः ॥ ४२५ ॥
कारणालीयकन्यायात् सम्यक्त्वं जातमात्रकम् ।
जीवस्यानन्तसंसारं संख्यात्मिकां स्थितिं नयेत् ॥ ४२६ ॥
भावनादित्रिषु स्त्रीषु षट्स्वधःश्वभ्रभूमिषु ।
अवस्थायामपूर्णायां न हि सम्यक्त्वसंभवः ॥ ४२७ ॥
यस्य सम्यक्त्वसम्भूतिरायुर्बन्धेऽथ दुर्गतौ ।
गतिच्छेदो न तस्यास्ति तथाप्यल्पतरा स्थितिः ॥ ४२८ ॥

---

१ कर्मक्षमाप्तो इति पूर्वार्धभाग्यन्तरपदे ख-पुस्तके । २ अस्य स्थाने कश्चि-दिति छेदाभ्यन्तरे । ३ यानि. क. ।

आयुर्बन्धे चतुर्गत्यां यदि सम्यक्त्वसंभवः ।
देवायुर्बन्धनं मुक्त्वा नाप्येतेऽणुमहाव्रते ॥ ४२९ ॥
क्षयोपशमसद्दृष्टिः पदं प्राप्नोति दुर्लभम् ।
सुदेवं स्वर्गलोकेषु मानुषं कर्मभूमिषु ॥ ४३० ॥
लब्ध्वा क्षायिकसम्यक्त्वमेकतृतीयतुर्यके ।
भवे मुक्तिं प्रयात्यङ्गी नास्त्यतोऽन्यभवाश्रयः ॥ ४३१ ॥
आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं तत्र मन्दत्वमागतम् ।
आर्त्तं चतुर्विधं प्रोक्तं रौद्रध्यानं च तद्विधम् ॥ ४३२ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४३३ ॥
आर्त्तध्यानवशाज्जीवः करोत्यशुभबन्धनम् ।
बद्धायुष्को मृतिं लब्ध्वा तैरश्चीं गतिमश्नुते ॥ ४३४ ॥
हिंसानन्दो मृषानन्दः स्तेयानन्दस्तृतीयकः ।
तुर्यः संरक्षणानन्दो रौद्रध्यानस्य पर्ययाः ॥ ४३५ ॥
रौद्रध्यानेऽथ जीवेन कषायविषमोहिना ।
आद्यश्वभ्रावनौ जन्म बद्धायुष्केण लभ्यते ॥ ४३६ ॥
गौणवृत्त्या भवेत्तस्य धर्मध्यानं कथंचन ।
आप्तोपज्ञस्य शास्त्रस्य चिन्तनश्रवणात्मकम् ॥ ४३७ ॥

उक्तं च—

मनः सदर्थाधिगमे प्रवृत्तं वाक्पाठयोगे नयने च वर्णे ।
श्रुती श्रुतौ निश्चलविग्रहश्च ध्यानेऽपि चैकाग्र्यमिहापि सौख्यं ॥[illegible]

१ रौद्रितार्थस्य. ख. । २ ध्यानेन जीवेन. ख. । ३ आद्यः ख. । ४ ध[illegible] ध्यानस्य पर्ययः ख. । ५ शान्त्यै ख. ।

असंयतो निजात्मानमेकवारं दिनं प्रति ।
ध्यायन्नियतं कालं नो धर्मध्यानपरायणः ॥ ४३८ ॥

उक्तं च प्रवचनटीके —

> अविदितपरमत्थादी विसयमिसयेसादिय ण कुव्वंतो ।
> पांइ पांइ दिणमिणिवार णो झायदि अप्पगं सुद्धं ॥ १ ॥

ईदृशं भेदसम्यक्त्वं नापरं निश्चयात्मकम् ।
निश्चयाख्यं निजात्मैव तत्साध्यं ध्यानमनीषिभिः ॥४३९॥
असंयतगुणस्थानं चतुर्थं प्रतिपादितम् ।
देशसंयमिनो धाम पंचमं कथ्यतेऽधुना ॥ ४४० ॥

इति चतुर्थासंयतगुणस्थानम् ।

अतो देशव्रताभिख्ये गुणस्थाने हि पंचमे ।
भावास्त्रयोऽपि विद्यन्ते पूर्वोक्तलक्षणा इह ॥ ४४१ ॥
प्रत्याख्यानोदयाज्जीवो नो धत्तेऽखिलसंयमम् ।
तथापि देशसंत्यागात्संयतासंयतो मतः ॥ ४४२ ॥
विरतिस्त्रसघातस्य मनोवाक्काययोगतः ।
स्थावराङ्गिविघातस्य प्रवृत्तिस्तस्य कुत्रचित् ॥ ४४३ ॥

---

१ मुद्रितं ख, ड्अदा अथे इमे अवतरे गाथे ख-पुस्तके । तथा चोक्तं दर्शनसारग्रन्थे —

> जो पुव्वरत्तवरत्तकाले संचिंतइ अप्पगमप्पणेणं ।
> किमेवइ किच्चमकिच्चमेसं किं सक्कणिज्जं गुणपाणरासि ॥ १ ॥
> किं संसरो पासइ किं च अप्पा दोसाणयं किं ण विवज्जयामि ।
> इचेव सम्मं अणुपस्समाणो अज(णा)गयं णो पडिबंध कुज्जा ॥ २ ॥

निरताविरतस्तस्माद्भण्यते देशसंयमी ।
प्रतिमालक्षणास्तस्य भेदा एकादश स्मृताः ॥ ४४४ ॥
आद्यो दर्शनिकस्तत्र व्रतिकः स्यात्ततः परम् ।
सामायिकव्रती चाथ सप्रोषधोपवासकृत् ॥ ४४५ ॥
सचित्ताहारसंत्यागी दिवास्त्रीभजनोज्झितः ।
ब्रह्मचारी निरारम्भः परिग्रहपरिच्युतः ॥ ४४६ ॥
तस्मादनुमतोद्दिष्टविरतौ द्वाविति क्रमात् ।
एकादशविकल्पाः स्युः श्रावकाणां क्रमादमी ॥ ४४७ ॥
गृही दर्शनिकस्तत्र सम्यक्त्वगुणभूषितः ।
संसारभोगनिर्विण्णो ज्ञानी जीवदयापरः ॥ ४४८ ॥
माक्षिकामिषमद्यं च सहोदुम्बरपंचकैः ।
वेश्या पराङ्गना चौर्यं द्यूतं नो भजते हि सः ॥ ४४९ ॥
दर्शनिकः प्रकुर्वीत निशि भोजनवर्जनम् ।
यतो नास्ति दयाधर्मो रात्रौ भुक्तिं प्रकुर्वतः ॥ ४५० ॥

दर्शनप्रतिमा ।

स्थूलहिंसानृतस्तेयपरस्त्रीचाभिकांक्षता ।
अणुव्रतानि पंचैव तत्त्यागात्स्यादणुव्रती ॥ ४५१ ॥
योगत्रयस्य सम्बन्धात्कृतानुमतकारितैः ।
न हिनस्ति त्रसान् स्थूलमहिंसाव्रतमादिमम् ॥ ४५२ ॥
न वदत्यनृतं स्थूलं न परान् वादयत्यपि ।
जीवपीडाकरं सत्यं द्वितीयं तदणुव्रतम् ॥ ४५३ ॥
अदत्तपरवित्तस्य निक्षिप्तविस्मृतादिनः ।
तत्परित्यजनं स्थूलमचौर्यं व्रतमुच्यते ॥ ४५४ ॥

---

१ क. ख । २ हि स. ।

उक्तं च जिनसंहितायां—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः स शूद्रो वा सुदर्शनवान् ॥ १ ॥

अन्येषां नाधिकारित्वं ततस्तैः प्रविधीयताम् ।
जिनपूजां विना सर्वा दूरा सामायिकी क्रिया ॥ ४६६ ॥
जिनपूजा प्रकर्तव्या पूजाशास्त्रोदितक्रमात् ।
यया संप्राप्यते मर्त्यैर्मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ४६७ ॥
प्रातस्तरां समुत्थाय जिनं स्मृत्वा विधीयताम् ।
प्राभातिको विधिः सर्वः शौचाचमनपूर्वकम् ॥ ४६८ ॥
ततः पौर्वाह्निकी सन्ध्याक्रियां समाचरेत्सुधीः ।
शुद्धक्षेत्रं समाश्रित्य मंत्रवच्छुद्धवारिणा ॥ ४६९ ॥
पश्चात् स्नानविधिं कृत्वा धौतवस्त्रपरिग्रहः ।
मंत्रस्नानं व्रतस्नानं कर्तव्यं मंत्रवत्ततः ॥ ४७० ॥
एवं स्नानत्रयं कृत्वा शुद्धित्रयसमन्वितः ।
जिनावासं विशेन्मंत्री समुच्चार्य निषेधिकाम् ॥ ४७१ ॥
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिं जिनं स्तुत्वातिभक्तितः ।
उपविश्य जिनस्याग्रे कुर्याद्विधिमिमं पुरा ॥ ४७२ ॥
तत्रादौ शोषणं चापि दहनं प्लावनं ततः ।
इत्येवं मंत्रविन्मंत्री स्वकीयाङ्गं पवित्रयेत् ॥ ४७३ ॥
हस्तशुद्धिं विधायाथ प्रकुर्यात्सकलीक्रियाम् ।
कूटबीजाक्षरैर्मंत्रैर्दशदिग्बंधनं ततः ॥ ४७४ ॥

[illegible]
[illegible]

स्वोत्तमाङ्गं प्रसिंच्याथ जिनाभिषेकवारिणा ।
जलगन्धादिभिः पश्चादर्चयेद्बिंबमर्हतः ॥ ४८६ ॥
स्तुत्वा जिनं विसर्ज्यापि दिगीशादिमरुद्गणान् ।
अर्चिते मूलपीठेऽथ स्थापयेज्जिननायकम् ॥ ४८७ ॥
तोयैः कर्मरजःशान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये ।
अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे ॥ ४८८ ॥
चरुभिः सुरसंवृद्ध्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः ।
सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलाप्तये ॥ ४८९ ॥
घण्टाद्यैर्मंगलद्रव्यैर्मंगलावाप्तिहेतवे ।
पुष्पाञ्जलिप्रदानेन पुष्पदन्ताभिदीप्तये ॥ ४९० ॥
त्रिरूभिः शान्तिधाराभिः शान्तये सर्वकर्मणाम् ।
आराधयेज्जिनाधीशं मुक्तिश्रीवनितापतिम् ॥ ४९१ ॥
इत्येकादशधा पूजां ये कुर्वन्ति जिनेशिनाम् ।
अष्टौ कर्माणि सन्दह्य प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ४९२ ॥
अष्टोत्तरशतैः पुष्पैः जापं कुर्याज्जिनाग्रतः ।
पुष्पैः पंचनमस्कारैर्यथावकाशमञ्जसा ॥ ४९३ ॥
अथवा सिद्धचक्राख्यं यंत्रमुद्धार्य सम्भवम् ।
मन्त्रपरमेष्ठ्याख्यं गणभृद्वलयक्रमम् ॥ ४९४ ॥
यंत्रं चिन्तामणिर्नाम सम्यक्शास्त्रोपदेशतः ।
संपूज्यात्र जपं कुर्यात् तत्तन्मंत्रैर्यथाक्रमम् ॥ ४९५ ॥
सर्वयंत्रगन्धतो भाले विन्यस्य शिरोरुहम् ।
सिद्धशेषां प्रसंपूज्य ध्यायेन्मुक्तिं समाहितः ॥ ४९६ ॥
चैत्यभक्त्यादिभिः स्तुत्वा जिनेन्द्रं भक्तिनिर्भरः ।
कृतकृत्यं स्वमात्मानं मन्यमानोऽत्र जन्मनि ॥ ४९७ ॥

संक्षेपस्नानशास्त्रोक्तविधिना प्राभिषिच्य तम् ।
कुर्यादष्टविधां पूजां तोयगन्धाक्षतादिभिः ॥ ४९८ ॥
अन्तर्मुहूर्तमात्रं तु ध्यायेत् स्वस्थेन चेतसा ।
स्वदेहस्थं निजात्मानं चिदानन्दैकलक्षणम् ॥ ४९९ ॥
विधायैवं जिनेशस्य यथावकाशतोऽर्चनम् ।
समुत्थाय पुनः स्तुत्वा जिनचैत्यालयं व्रजेत् ॥ ५०० ॥
कृत्वा पूजां नमस्कृत्य देवदेवं जिनेश्वरम् ।
श्रुतं संपूज्य सद्भक्त्या तोयगन्धाक्षतादिभिः ॥ ५०१ ॥
संपूज्य चरणौ साधोर्नमस्कृत्य यथाविधिम् ।
आर्याणामार्यिकाणां च कृत्वा विनयसंज्ञया ॥ ५०२ ॥
इच्छाकारवचः कृत्वा मिथः साधर्मिकैः समम् ।
उपविश्य गुरोरन्ते सद्धर्मं शृणुयाद्बुधः ॥ ५०३ ॥
देयं दानं यथाशक्त्या जैनदर्शनवर्तिनाम् ।
कृपादानं च कर्तव्यं दयागुणविवृद्धये ॥ ५०४ ॥
एवं सामायिकं सम्यग्यः करोति गृहाश्रमी ।
दिनैः कतिपयैरेव स स्यान्मुक्तिश्रियः पतिः ॥ ५०५ ॥
मासं प्रति चतुर्ष्वेव पर्वस्वाहारवर्जनम् ।
सकृद्भोजनसेवा वा कांजिकाहारसेवनम् ॥ ५०६ ॥
एवं शक्त्यनुसारेण क्रियते समभावतः ।
स प्रोषधो विधिः प्रोक्तो मुनिभिर्धर्मवत्सलैः ॥ ५०७ ॥

---

१ सा ख. । २ व ख. । ३ श्लोकोऽयं. ४९९ श्लोकादुत्तरं । ४ श्लोकं ४९८ श्लोकात्पूर्वं ख–पुस्तके । ५ सद्भक्त्या ख. । ६ श्लोकोऽयं. ख पुस्तके नास्ति ।

भुक्त्वा संत्यज्यते वस्तु स भोगः परिकीर्त्यते ।
उपभोगोऽसकृद्वारं भुज्यते च तयोर्मितिः[1] ॥ ५०८ ॥
संविभागोऽतिथीनां यः किंचिद्विशिष्यते हि सः ।
न विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः ॥ ५०९ ॥
अधिकाराः स्युश्चत्वारः संविभागे यतीशिनाम् ।
कथ्यमाना भवन्त्येते दाता पात्रं विधिः फलम् ॥ ५१० ॥
दाता शान्तो विशुद्धात्मा मनोवाक्कायकर्मसु ।
दक्षस्त्यागी विनीतश्च प्रभुः षड्गुणभूषितः ॥ ५११ ॥
ज्ञानं भक्तिः क्षमा तुष्टिः सत्त्वं च लोभवर्जनम् ।
गुणा दातुः प्रजायन्ते षडेते पुण्यसाधने ॥ ५१२ ॥
पात्रं त्रिविधं प्रोक्तं सत्पात्रं च कुपात्रकम् ।
अपात्रं चेति तन्मध्ये तावत्पात्रं प्रकथ्यते ॥ ५१३ ॥
उत्कृष्टमध्यमक्लिष्टभेदात् पात्रं त्रिधा स्मृतम् ।
तत्रोत्तमं भवेत्पात्रं सर्वसंगोज्झितो यतिः ॥ ५१४ ॥
मध्यमं पात्रमुद्दिष्टं मुनिभिर्देशसंयमी ।
जघन्यं प्रभवेत्पात्रं सम्यग्दृष्टिरसंयतः ॥ ५१५ ॥
रत्नत्रयोज्झितो देही करोति कुत्सितं तपः ।
ज्ञेयं तत्कुत्सितं पात्रं मिथ्याभावसमाश्रयात् ॥ ५१६ ॥
न व्रतं दर्शनं शुद्धं न चास्ति नियतं मनः ।
यस्य चास्ति क्रिया दुष्टा तदपात्रं बुधैः स्मृतम् ॥ ५१७ ॥

---

१ पारम ॥ [illegible]

मुक्त्वात्र कुत्सितं पात्रमपात्रं च विशेषतः ।
पात्रदानविधिस्तत्र प्रकथ्यते यथाक्रमम् ॥ ५१८ ॥
स्थापनमासनं योग्यं चरणक्षालनार्चने ।
नतिस्त्रियोगशुद्धिश्च नवम्याहारशुद्धिता ॥ ५१९ ॥
नवविधं विधिः प्रोक्तः पात्रदाने मुनीश्वरैः ।
तथा षोडशभिर्दोषैरुद्गमाद्यैर्विवर्जितं ॥ ५२० ॥
उद्दिष्टं विक्रयानीतमुद्धारस्वीकृतं तथा ।
परिवर्त्य समानीतं देशान्तरगतमागतम् ॥ ५२१ ॥
अप्रासुकेन सम्मिश्रं भुक्तिभाजनमिश्रता ।
अधिकापाकसंवृद्धिर्मुनिवृन्दे समागते ॥ ५२२ ॥
समीपीकरणं पंक्तौ संयतासंयतात्मनाम् ।
पाकभाजनतोऽन्यत्र निक्षिप्यानयनं तथा ॥ ५२३ ॥
निर्वापितं समुत्क्षिप्य दुग्धमण्डादिकं च यत् ।
नीचजात्यार्पितार्थं च प्रतिहस्तान्तरार्पितम् ॥ ५२४ ॥
यक्षादिबलिशेषं च आनीय चोर्ध्वसद्मनि ।
ग्रन्थिमुत्क्षिप्य यद्दत्तं कालातिक्रमतोऽर्पितम् ॥ ५२५ ॥
राजादीनां भयाद्दत्तमित्येषा दोषसंहतिः ।
वर्जनीया प्रयत्नेन पुण्यसाधनसिद्धये ॥ ५२६ ॥
आहारे भक्तितो दत्तं दात्रा योग्यं यथाविधि ।
सर्वास्तान्ये विशोध्यैतद्वीतरागयतीशिना ॥ ५२७ ॥
योग्यकालागतं पात्रं मध्यमं वा जघन्यकम् ।
यथावत्प्रतिपत्त्या च दानं तस्मै प्रदीयताम् ॥ ५२८ ॥

---

१ मुद्रे क. ।

यदि पात्रमलब्ध्वं चेदेवं निन्दां करोत्यसौ ।
वासरोऽयं वृथा यातः पात्रदानं विना मम ॥ ५२९ ॥
इत्येवं पात्रदानं यो विदधाति गृहाश्रमी ।
देवेन्द्राणां नरेन्द्राणां पदं संप्राप्य सिद्ध्यति ॥ ५३० ॥
अणुव्रतानि पंचैव सप्तशीलगुणैः सह ।
प्रपालयति निःशल्यः भवेद्व्रतिको गृही ॥ ५३१ ॥

व्रतप्रतिमा ।

चतुस्त्यावर्तसंयुक्तश्चतुर्नमस्क्रिया सह । ?
द्विनिषद्यो यथाजातो मनोवाक्कायशुद्धिमान् ॥ ५३२ ॥
चैत्यभक्त्यादिभिः स्तुयाज्जिनं सन्ध्यात्रयेऽपि च ।
कालातिक्रमणं मुक्त्वा स स्यात्सामायिकव्रती ॥ ५३३ ॥

सामायिकप्रतिमा ।

मासं प्रत्यष्टमीमुख्यचतुष्पर्वदिनेष्वपि ।
चतुरभ्यवहार्याणां विदधाति विसर्जनम् ॥ ५३४ ॥
पूर्वापरदिने चैकाभुक्तिस्तदुत्तमं विदुः ।
मध्यमं तद्विना क्लिष्टं यत्राम्बु सेव्यते क्वचित् ॥ ५३५ ॥
इत्येकमुपवासं यो विदधाति स्वशक्तितः ।
श्रावकेषु भवेत्तुर्यः प्रोषधोऽनशनव्रती ॥ ५३६ ॥

प्रोषधप्रतिमा ।

---

1 सन्ध्यात्रयेष्वपि. ख. ।

अनुमतत्यागप्रतिमा ।

नोद्दिष्टां सेवते भिक्षामुद्दिष्टविरतो गृही ।
द्वेधैको ग्रन्थसंयुक्तस्त्वन्यः कौपीनधारकः ॥ ५४३ ॥
आद्यो विदधते (ति) क्षौरं प्रावृणोत्येकवाससम् ।
पंचभिक्षासनं भुंक्ते पठते गुरुसन्निधौ ॥ ५४४ ॥
अन्यः कौपीनसंयुक्तः कुरुते केशलुञ्चनम् ।
शौचोपकरणं पिच्छं मुक्त्वान्यग्रन्थवर्जितः ५४५ ॥
मुनीनामनुमार्गेण चर्यायै सुप्रगच्छति ।
उपविश्य चरेद्भिक्षां करपात्रेऽङ्गसंवृतः ॥ ५४६ ॥
नास्ति त्रिकालयोगोऽस्य प्रतिमा चार्कसम्मुखा ।
रहस्यग्रन्थसिद्धान्तश्रवणे नाधिकारिता ॥ ५४७ ॥
वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखण्डपरिग्रहात् ।
एवमेकादशो गेही सोत्कृष्टः प्रभवत्यसौ ॥ ५४८ ॥

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा ।

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः ।
संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥ ५४९ ॥
आर्त्तरौद्रं भवेद्ध्यानं मन्दभावसमाश्रितम् ।
मुख्यं धर्म्यं न तस्यास्ति गृहव्यापारसंश्रयात् ॥ ५५० ॥
गौणं हि धर्मसद्ध्यानमुत्कृष्टं गृहमेधिनः ।
भद्रध्यानात्मकं धर्म्यं शेषाणां गृहचारिणाम् ॥ ५५१ ॥

---

१ द्वावेतौ. ख । २ साऽऽश्रयत्युति ।

अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु ।
सुरैर्विनिर्मिता पूजा भवेत्सेन्द्रध्वजात्मिका ॥ ५५९ ॥

इन्द्रध्वजा ।

महोत्सवमिति प्रीत्या प्रपंचयति पंचधा ।
स स्यान्मुक्तिवधूनेत्रप्रेमपात्रं पुमानिह ॥ ५६० ॥

पूजा ।

दानमाहारभैषज्यशास्त्राभयविकल्पतः ।
चतुर्धा तत्पृथक् त्रेधा त्रिधापात्रसमाश्रयात् ॥ ५६१ ॥
एषणाशुद्धितो दानं त्रिधा पात्रे प्रदीयते ।
भवत्याहारदानं तत्सर्वदानेषु चोत्तमम् ॥ ५६२ ॥
आहारदानमेकं हि दीयते येन देहिना ।
सर्वाणि तेन दानानि भवन्ति विहितानि वै ॥ ५६३ ॥
नास्ति क्षुधासमो व्याधिर्भेषजं वास्य शान्तये ।
अन्नमेवेति मन्तव्यं तस्मात्तदेव भेषजम् ॥ ५६४ ॥
विनाहारैर्बलं नास्ति जायते नो बलं विना ।
सच्छास्त्राध्ययनं तस्मात्तद्दानं स्यात्तदात्मकम् ॥ ५६५ ॥
अभयं प्राणसंरक्षा बुभुक्षा प्राणहारिणी ।
क्षुन्निवारणमन्नं स्यादन्नमेवाभयं ततः ॥ ५६६ ॥

---

१ सुरेन्द्रैर्निर्मिता. ख । २ तस्य. ख. ।

अमस्याहारदानस्य तृप्तिभाजां शरीरिणाम्।[1]
रत्नभूस्वर्णदानानि कलां नार्हन्ति षोडशीम्[2][3] ॥ ५६७ ॥
सद्दृष्टिः पात्रदानेन लभते नाकिनां पदम्।
ततो नरेन्द्रतां प्राप्य लभते पदमक्षयम् ॥ ५६८ ॥
संसाराब्धौ महाभीमे दुःखकल्लोलसंकुले।
तारकं पात्रमुत्कृष्टमनायासेन देहिनाम् ॥ ५६९ ॥
सत्पात्रं तारयत्युच्चैः[4] स्वदातारं भवार्णवे।
यानपात्रं समीचीनं तारयत्यम्बुधौ यथा ॥ ५७० ॥
भद्रमिथ्यादृशो जीवा उत्कृष्टपात्रदानतः।
उत्पद्य भुंजते भोगानुत्कृष्टभोगभूतले ॥ ५७१ ॥
ते चार्पितप्रदानेन मध्यमाधमपात्रयोः।
मध्यमाधमभोगेभ्यो लभन्ते जीवितं महत् ॥ ५७२ ॥
मधुवाद्याङ्गदीपाङ्गा वस्त्रभाजनमाल्यदाः।
ज्योतिर्भूषागृहाङ्गाश्च दशधा कल्पपादपाः ॥ ५७३ ॥
पुण्योपचितमाहारं मनोज्ञं कल्पितं यथा।
लभन्ते कल्पवृक्षेभ्यस्तत्पत्या देहधारिणः ॥ ५७४ ॥
दानं हि वामदृग्दत्त्वा कुपात्राय प्रयच्छति।
उत्पद्यते कुदेवेषु तिर्यक्षु कुनरेष्वपि ॥ ५७५ ॥
मानुषोत्तरबाह्ये ह्यसंख्यद्वीपवार्धिषु।
तिर्यक्त्वं लभते नूनं देही कुपात्रदानतः ॥ ५७६ ॥
निन्द्यासु भोगभूमीषु पल्यप्रमितजीविनः।[5]
नग्नाश्च विकृताकारा भवन्ति वामदृष्टयः ॥ ५७७ ॥

---

१ अस्याग्नाहारदानस्य. ख.। २ भाजं स.। ३ दानादे कलां नार्हति। ४ उच्चैः। ५७२–५७३ श्लोकौ पूर्वापरीभूतौ. स–पुस्तके। ५ निन्द्यासु कुभोगभूमीषु. ख.।

लवणाब्धेर्मन्तर्तं त्यक्त्वा शतमीं पंचयोजनीम् ।
दिग्विदिक्षु चतस्रः पृथक्कुभोगभूमयः ॥ ५७८ ॥
मर्कोरुकाः मशृङ्गाश्च लांगुलिनश्च मूकिनः ।
चतुर्दिक्षु वमन्त्येते पूर्वादिक्रमतो यथा ॥ ५७९ ॥
विदिक्षु शशकर्णाख्याः सन्ति सप्कुलिकर्णिनः ।
कर्णप्रावरणाश्चैव लम्बकर्णाः कुमानुषाः ॥ ५८० ॥
शतानि पंच सार्धानि समत्यज्य वार्धिमन्तटम् ।
अन्तरस्थदिशास्वष्टौ कुत्सिता भोगभूमयः ॥ ५८१ ॥
सिंहाश्च महिषोलूकव्याघ्रशूकरगोमुखाः ।
कपिवक्त्रा भवन्त्यष्टौ दिशानामन्तरे स्थिताः ॥ ५८२ ॥
वेधायाः पट्छतीं त्यक्त्वा द्वौ द्वावुभयोर्दिशोः ।
हिमाद्रिविजयार्धाद्रितागद्रिशिखर्यद्रिषु ५८३ ॥
हिमवद्विजयार्धस्य पूर्वापरविभागयो ।
मत्स्यकालमुखा मेघविद्युन्मुखाश्च मानवा ॥ ५८४ ॥
विजयार्धशिखर्यद्रिपार्श्वयोरुभयोरपि ।
हस्त्यादर्शमुखामेघमण्डलाननसन्निभा ॥ ५८५ ॥
चतुर्विंशतिसंख्याका भवन्ति मिलिता इमाः ।
तावन्त्यो धातकीखण्डनिकटे लवणार्णवे ॥ ५८६ ॥
एवं स्युद्वर्चिपंचाशल्लवणाब्धितटद्वयोः ।
कालोदजलधौ तद्वद्द्वीपाः षण्णवति स्मृताः ॥ ५८७ ॥
एकोरुका गुहावासाः स्वादुमृन्मयभोजनाः ।
शेषास्तरुतलावासा पत्रपुष्पफलाशिन ॥ ५८८ ॥

न जातु वियते येषां कृतदोषनिकृंतनम् ।
उत्पादोऽत्र भवेत्तेषां कषायवशगात्मनाम् ॥ ५८९ ॥

त्रिफलं—

सूतकाशुचिदुर्भावव्यांकुलादिम(त्व)संयुताः ।
पात्रे दानं प्रकुर्वन्ति मूढा वा गर्विताशयाः ॥ ५९० ॥
पंचाग्निना तपोनिष्ठा मौनहीनं च भोजनम् ।
प्रीतिशान्यविवादेषु व्यसनेष्वतिनीव्रता ॥ ५९१ ॥
दानं च कुत्सिते पात्रे येषां प्रवर्तते सदा ।
तेषां प्रजायते जन्म क्षेत्रेष्वेतेषु निश्चितम् ॥ ५९२ ॥
उत्पद्यन्ते ततो मृत्वा भावनादिसुरत्रये ।
मन्दकषायसद्भावात् स्वभावार्जवभावतः ॥ ५९३ ॥
मिथ्यात्वभावनायोगात्तश्च्युत्वा भवार्णवे ।
वराकाः सम्पतन्त्येव जन्मनक्रकुलाकुले ॥ ५९४ ॥
अपात्रे विहितं दानं यत्नेनापि चतुर्विधम् ।
व्यर्थीभवति तत्सर्वं भस्मन्याज्याहुतिर्यथा ॥ ५९५ ॥
अन्धौ निमज्जयत्याशु स्वमन्यामौर्दषन्मयी ।
संसाराब्धावपात्रं तु तादृशं विद्धि सन्मते ! ॥ ५९६ ॥
पात्रे दानं प्रकर्तव्यं ज्ञात्वैवं शुद्धदृष्टिभिः ।
यस्मात्सम्पद्यते सौख्यं दुर्लभं त्रिदशेशिनाम् ॥ ५९७ ॥

दानम् ।

---

१ क-पुस्तके अस्मात् ५८९ श्लोकात्पूर्वं द्विकलमिति पाठः । ख-पुस्तके तु ५९० श्लोकात्पूर्वं त्रिकलमिति । २ बकनादिमसंयुताः ख-पाठ. ।

॥

गुरूपास्तिः ।

चतुर्णामनुयोगानां जिनोक्तानां यथार्थतः ।
अध्यापनमधीतिर्वा स्वाध्यायः कथ्यते हि सः ॥ ५९९ ॥

स्वाध्यायः ।

प्राणिनां रक्षणं त्रेधा तथाक्षप्रसराहतिः ।
एकोद्देशमिति प्राहुः संयमं गृहमेधिनाम् ॥ ६०० ॥

संयमम् ।

उपवासः सकृद्भुक्तिः सौवीराहारसेवनम् ।
इत्येवमाद्यमुद्दिष्टं साधुभिर्गृहिणां तपः ॥ ६०१ ॥

तपः ।

कर्माण्यावश्यकान्याहुः षडेवं गृहचारिणाम् ।
अधःकर्मादिसम्पातदोषविच्छित्तिहेतवे ॥ ६०२ ॥
षट्कर्मभिः किमस्माकं पुण्यसाधनकारणैः ।
पुण्यात्प्रजायते बन्धो बंधात्संसारता यतः ॥ ६०३ ॥
निजात्मानं निरालंबध्यानयोगेन चिंत्यते ।
येनेह बन्धविच्छेदं कृत्वा मुक्तिं प्रगम्यते ॥ ६०४ ॥
ये वदन्ति गृहस्थानामस्ति ध्यानं निराश्रयम् ।
जैनागमं न जानन्ति दुर्धियस्ते मतंगकाः ॥ ६०५ ॥

१ अधाकर्मादिसंपात ख । २ निरालंब क. ।

भस्मसात्कुरुते तस्माद्घातिकर्मेन्धनोत्करम् ।
संप्राप्यार्हन्त्यसल्लक्ष्मीं मोक्षलक्ष्मीपतिर्भवेत् ॥ ६१७ ॥
ईदृग्विधं पदं भव्यः सर्वं पुण्यादवाप्यते ।
तस्मात्पुण्यं प्रकर्तव्यं यत्नतो मोक्षकांक्षिणा ॥ ६१८ ॥
एवं संक्षेपतः प्रोक्तं यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ।
देशसंयमसम्बन्धिगुणस्थानं हि पंचमम् ॥ ६१९ ॥

इति पंचमं विरताविरतसंज्ञं गुणस्थानम् ।

अतो वक्ष्ये गुणस्थानं प्रमत्तसंयताव्हयम् ।
तत्रौपशमिकाद्याः स्युस्त्रयो भावा यथोदिताः ॥ ६२० ॥
कषायाणां चतुर्थानां तीव्रपाके महाव्रती ।
भवेत्प्रमादयुक्तत्वात्प्रमत्तसंयताभिधः ॥ ६२१ ॥
मूलशीलगुणैर्युक्तो यद्यप्यखिलसंयमी ।
व्यक्ताव्यक्तप्रमादत्वाच्चित्रिताचरणो भवेत् ॥ ६२२ ॥
निद्रा स्नेहो हृषीकाणि कषाया विकथाः क्रमात् ।
एकैकं पंच चत्वारश्चतस्रश्च प्रमादकाः ॥ ६२३ ॥
बाह्यैर्दशविधैर्ग्रन्थैश्चेतनाचेतनात्मकैः ।
तथाभ्यन्तरगैस्तैश्चतुर्दशविधैर्युताः ॥ ६२४ ॥
क्षेत्रं गृहं धनं धान्यं सुवर्णं रजतं तथा ।
दास्यो दासाश्च भांडं च कुप्यं बाह्यपरिग्रहाः ॥ ६२५ ॥
ग्रन्था हास्यादयो दोषा यामं वेदाः कषायकाः ।
षंडकत्रिचतुर्भेदैरन्तरङ्गाश्चतुर्दश ॥ ६२६ ॥

त्यक्तग्रन्थेषु बाह्येषु पुनर्मुह्यन्ति दुर्धियः ।
ममानाम्ने भवन्पुर्षर्गृद्धीर्णाहारभोजिनाम् ॥ ६२७ ॥
हास्यादिषट्सु दोषेषु प्रसक्ता जिनलिंगिनः ।
मूढास्ते पुष्पनाराचैर्भिद्यन्ते यथेप्सितम् ॥ ६२८ ॥
धृत्वा जैनेश्वरं लिंगं वैपरीत्येन वर्तनम् ।
मिथ्यात्वं तद्भवेत्तेषां दुर्गतौ गमने सदा ॥ ६२९ ॥
घूर्णन्ते विषयव्यालैर्भिद्यन्ते मारमार्गणैः ।
वेदरागवशीभूता दह्यन्ते दुःखवन्हिना ॥ ६३० ॥
न शक्नुवन्ति ये जेतुं कषायराक्षसां गणम् ।
वराकाः कार्मणं सैन्यं न ते जेष्यन्ति जातुचित् ॥ ६३१ ॥
रसे रसायने स्तम्भे शाकिनीग्रहनिग्रहे ।
वश्योच्चाटनविद्वेषे भोगीन्द्रविषविध्वंसे ॥ ६३२ ॥
इत्यादिषु प्रवर्तन्ते निष्कृपा ऐहिकाशयाः ।
यतित्वं जीवनोपायं भवेत्तेषां विनिश्चितम् ॥ ६३३ ॥
निःशल्या निरहंकारा निर्मोहा मदविच्युताः ।
पक्षपातारिसंत्यक्ता निष्कषाया जितेन्द्रियाः ॥ ६३४ ॥
अन्तर्बाह्यतपोनिष्ठाधारिव्रतमार्जिनः ।
दशधर्मरताः शान्ता ध्यानाध्ययनतत्पराः ॥ ६३५ ॥
भेदाभेदनयाक्रान्तरत्नत्रयविभूषिताः ।
इत्यादिगुणभूयाढ्या जगद्वन्द्या यतीश्वराः ॥ ६३६ ॥
ध्यायन्ति गौणभावाढ्यं धर्म्यमालम्बनान्वितम् ।
मुख्यं धर्म्यं निरालम्बमप्रमत्तमुनीश्वराः ॥ ६३७ ॥

१ येषु ख । २ भाजना. ग ।

धर्मध्यानं तु सालम्बं चतुर्भेदैर्निगद्यते ।
आज्ञापायविपाकाख्यसंस्थानविचयात्मभिः ॥ ६३८ ॥
स्वसिद्धान्तोक्तमार्गेण तत्त्वानां चिन्तनं यथा ।
आज्ञया जिननाथस्य तदाज्ञाविचयं मतम् ॥ ६३९ ॥
अपायश्चिन्त्यते बाढं यः शुभाशुभकर्मणाम् ।
अपायविचयं प्रोक्तं तद्ध्यानं ध्यानवेदिभिः ॥ ६४० ॥
संसारवर्तिजीवानां विपाकः कर्मणामयम् ।
दुर्लक्षश्चिन्त्यते यत्र विपाकविचयं हि तत् ॥ ६४१ ॥
विचित्रं लोकसंस्थानं पदार्थैर्निचितं महत् ।
चिन्त्यते यत्र तद्ध्यानं संस्थानविचयं स्मृतम् ॥ ६४२ ॥
अथवा जिनमुख्यानां पंचानां परमेष्ठिनाम् ।
पृथक् पृथक् तु यद्ध्यानं सालंबं तदपि स्मृतम् ॥ ६४३ ॥
सालम्बध्यानमित्येवं ज्ञात्वा ध्यायन्ति योगिनः ।
कर्मनिर्जरणं तेषां प्रभवत्यविलम्बितम् ॥ ६४४ ॥
अस्तित्वान्नोकषायाणामार्तध्यानं प्रजायते ।
निराकरोति तद्ध्यानं स्वाध्यायभावनाबलात् ॥ ६४५ ॥
यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।
धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूचुर्जिनभास्कराः ॥ ६४६ ॥
तस्मादार्येषणार्थैस्तु[1] पापदोषापनिकृन्तति[2] ।
विशुद्ध्यावश्यकैः[3] षड्भिः मुमुक्षुः स्वात्मशुद्धये ॥ ६४७ ॥
समता वन्दना स्तोत्रं प्रत्याख्यानं प्रतिक्रिया ।
व्युत्सर्गश्चेति कर्माणि भवन्त्यावश्यकानि षट् ॥ ६४८ ॥

१ दार्यैं ख । २ प्राप्त ख । ३ विशुद्धया ख ।

आवश्यकान् परित्यज्य निश्चलं ध्यानमाश्रयेत् ।
नामौ वेत्त्यागमं जैनं मिथ्यादृष्टिर्भवत्यतः ॥ ६४९ ॥
तस्मादावश्यकैः कुर्यात्प्राप्तदोषनिकृन्तनम् ।
यावन्नाप्नोति सद्ध्यानं निरालम्बं मुनिश्चलम् ॥ ६५० ॥
सम्यग्जिनागमं ज्ञात्वा प्रोक्ततद्ध्यानसाधनात् ।
क्षपकश्रेणिमारुह्य मुक्तेः सद्म प्रपद्यते ॥ ६५१ ॥

इति[1] षष्ठं[2] प्रमत्तगुणस्थानम् ।

अप्रमत्तगुणस्थानमतो वक्ष्ये समासतः ।
भवन्त्यत्र त्रयो भावाः षट्स्थानोदिता यथा ॥ ६५२ ॥
संज्वलनकषायाणां जाते मन्दोदये सति ।
भवेत् प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती ॥ ६५३ ॥
नष्टशेषप्रमादात्मा व्रतशीलगुणान्वितः ।
ज्ञानध्यानपरो मौनी शमनक्षपणोन्मुखः ॥ ६५४ ॥
एकविंशतिभेदात्ममोहस्योपशमाय च ।
क्षपणाय करोत्येष सद्ध्यानसाधनं यमी ॥ ६५५ ॥
मुख्यवृत्त्या भवत्यत्र धर्मध्यानं जिनोदितम् ।
तत्र तावद्भवेद् ध्याता ध्येयं ध्यानं फलं क्रमात् ॥ ६५६ ॥
आहारासननिद्राणां विजयो यस्य जायते ।
पंचानामिन्द्रियाणां च परीषहसहिष्णुता ॥ ६५७ ॥
गिरीन्द्र इव निष्कम्पो गम्भीरस्तोयराशिवत् ।
अशेषशास्त्रविद्धीरो ध्याताऽसौ कथ्यते बुधैः ॥ ६५८ ॥

---

१ इति ख-पुस्तके नास्ति । २ षष्ठं क-पुस्तके नास्ति ।

यथावद्वस्तुनो रूपं ध्येयं स्यात् संयमसतां (मेशिनां) ।
एकाग्रचिन्तनं ध्यानं चतुर्भेदविराजितम् ॥ ६५९ ॥
पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ।
आद्यत्रयं तु सालम्बमन्त्यमालम्बनोज्झितम् ॥ ६६० ॥
पिण्डो देह इति तत्र तत्रास्त्यात्मा चिदात्मकः ।
तस्य चिन्तामयं मद्भिः पिण्डस्थं ध्यानमीरितम् ॥ ६६१ ॥
पंचानां सद्गुरूणां यत् पदान्यालंब्य चिन्तनम् ।
पदस्थध्यानमाम्नातं ध्यानाग्निध्वस्तकल्मषैः ॥ ६६२ ॥
आत्मा देहस्थितो यद्वचिन्त्यते देहतो बहिः ।
तद् रूपस्थं स्मृतं ध्यानं भव्यराजीव भास्करैः ॥ ६६३ ॥
ध्यानत्रयेऽत्र सालंबे कृताभ्यासः पुनः पुनः ।
रूपातीतं निरालम्बं ध्यातुं प्रक्रमते यतिः ॥ ६६४ ॥
इन्द्रियाणि विलीयन्ते मनो यत्र लयं व्रजेत् ।
ध्यातृध्येयविकल्पे न तद्ध्यानं रूपवर्जितम् ॥ ६६५ ॥
अमूर्तमजमव्यक्तं निर्विकल्पं चिदात्मकम् ।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं रूपातीतं च तद्विदुः ॥ ६६६ ॥
रूपातीतमिदं ध्यानं ध्यायन् योगी समाहितः ।
चराचरमिदं विश्वं क्षोभयत्यखिलं क्षणात् ॥ ६६७ ॥
सिद्धयोऽप्यणिमाद्याश्च सिद्ध्यन्ति स्वयमेव हि ।
मुक्तिस्त्रीवश्यतां याति योगिनस्तस्य निश्चितम् ॥ ६६८ ॥
इत्येतस्मिन् गुणस्थाने नो सन्त्यावश्यकानि षट् ।
संततध्यानसद्योगाद् शुद्धिः स्वाभाविकी यतः ॥ ६६९ ॥

१ 'इतिन्नवृत्तना' इति क-पुस्तके। ख पुस्तके तु 'इतिस्तोत्रस्तना' इति पाठः।

अप्रमत्तं गुणस्थानं संक्षेपेणेह वर्णितम् ।
अतो वक्ष्येऽष्टमे स्थाने श्रेणिद्वयसमाश्रितम् ॥ ६७० ॥

इति सप्तममप्रमत्तगुणस्थानम् ।

अतोऽपूर्वादिनामानि गुणस्थानान्युदीरयेत् ।
भवन्त्युपशमश्रेणी येभ्यश्च क्षपकावलिः ॥ ६७१ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थानमपूर्वगुणसंभवात् ।
भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदम् ॥ ६७२ ॥
अस्तित्वात्सूक्ष्मलोभस्य भवेत्सूक्ष्मकषायकम् ।
प्रशान्तरागयुक्तत्वादुपशान्तकषायकम् ॥ ६७३ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थाने प्रथमांशे प्रजायते ।
बन्धविच्छेदनं सम्यङ्निद्राप्रचलयोर्द्वयोः ॥ ६७४ ॥
आरोहति ततः श्रेणिमादिमामुपशामकः ।
सत्यापुष्युपशान्त्यासिं प्रापयेद्वृत्तमोहनम् ॥ ६७५ ॥
क्षपकः क्षपयत्युच्चैर्घातिमोहपर्वतम् ।
आरुह्य क्षपकश्रेणिमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ ६७६ ॥
प्रभवत्युपशमश्रेण्यां भावो ह्युपशमात्मकः ।
चारित्रं सद्विधं ज्ञेयं वृत्तमोहोपशान्तितः ॥ ६७७ ॥
स्यादुपशमसम्यक्त्वं प्रशमाद् दृष्टिमोहतः ।
केषांचित् क्षायिकं प्रोक्तं दृष्टिकर्मणः क्षयात् ॥ ६७८ ॥
तत्राद्यं शुक्लसद्ध्यानं स ध्यायन्त्युपशामकः ।
पूर्ववित् शुद्धिमान् युक्तो ह्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः ॥ ६७९ ॥

१ प्रथमभागे । २ ग: ख. । ३ ग: ख. ।

तद्ध्यानयोगतो योगी परां शुद्धिं प्रगच्छति ।
प्रापयन्नुपशान्तार्त्तिं वृत्तमोहं महारिपुम् ॥ ६८० ॥
वृत्तमोहोदयं प्राप्य पुनः प्रच्यवते यतिः ।
अधःकृतमलं तोयं पुनर्म्लानं भवेद्यथा ॥ ६८१ ॥
ऊर्ध्वमेकं च्युतौ चामं सप्तमं यान्ति देहिनः ।
इति त्रयमपूर्वाद्यास्त्रयो यान्त्युपशामकाः ॥ ६८२ ॥
उपशान्तकषायस्य न ह्यस्त्यूर्ध्वगुणाश्रयः ।
ततोऽसौ वामतां याति सप्तमं वा गुणास्पदम् ॥ ६८३ ॥
उपशान्तगुणश्रेण्यां येषां मृत्युः प्रजायते ।
अहमिन्द्रा भवन्त्येते सर्वार्थसिद्धिसद्मनि ॥ ६८४ ॥
चतुर्वारं शमश्रेणिं गेहत्याश्रयते यमम् ।
द्वात्रिंशद्वारमार्ग्गणकमांशा यान्ति निर्वृतिम् ॥ ६८५ ॥
आसंसारं चतुर्वारमेव स्याच्छमतोवला ? ।
जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ॥ ६८६ ॥

उक्तं चान्यत्र ग्रन्थान्तरे—

> चत्तारि वारमुवसमसेढिं समरुहदि खविदकम्मंसो ।
> बत्तीसं वाराइं संजम मुवलहिय णिव्वाणं ॥ १ ॥
> इत्युपशमश्रेणिगुणस्थानचतुष्टयम् ।

अतो वक्ष्ये समासेन क्षपकश्रेणिलक्षणम् ।
योगी कर्मक्षयं कर्तुं यामारुह्य प्रवर्तते ॥ ६८७ ॥

---

१ ग्रः अ. । २ ... नास्ति अ–पुस्तके । ३ ... "... णिव्वाणं" इति ग्र. । ४ इति अ–पुस्तके नास्ति ।

आयुर्बन्धविहीनस्य क्षीणकर्मांशदेहिनः ।
असंयतगुणस्थाने नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ६८८ ॥
तिर्यगायुः क्षयं याति गुणस्थाने तु पंचमे ।
सप्तमे त्रिदशायुश्च दृष्टिमोहस्य सप्तकम् ॥ ६८९ ॥
एतानि दश कर्माणि क्षयं नीत्वाथ शुद्धधीः ।
धर्मध्याने कृताभ्यासः समारोहति तत्पदम् ॥ ६९० ॥
मुख्यत्वेनेह साधूनां भावो हि क्षायिको मतः ।
सम्यक्त्वं क्षायिकं शुद्धं दृष्टिमोहारिसंक्षयात् ॥ ६९१ ॥
तत्रापूर्वगुणस्थाने शुक्लसद्ध्यानमादिमम् ।
ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः ॥ ६९२ ॥
ध्यानस्य विघ्नकारीणि त्यक्त्वा स्थानान्यशेषतः ।
विशुद्धानि मनोज्ञानि ध्यानसिद्ध्यर्थमाश्रयेत् ॥ ६९३ ॥

द्विकलं—

निष्प्रकम्पं विधायाथ दृढपर्यंकमासनम् ।
नासाग्रे दत्तसन्नेत्रः किंचिन्निमीलितेक्षण ॥ ६९४ ॥
विकल्पवागुराजालाद्दूरोत्सारितमानसः ।
संसारच्छेदनोत्साहः स योगी ध्यातुमर्हति ॥ ६९५ ॥
अपानद्वारमार्गेण निःसरन्तं यथेच्छया ।
निरुद्ध्योर्ध्वप्रचाराप्तिं प्रापयत्यनिलं मुनिः ॥ ६९६ ॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम् ।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः ॥ ६९७ ॥

१ बन्धाभावादयत्नसाध्य एतदायुःक्षयोऽत्र । २ सद. ख ।

कुम्भात्कुम्भकः योगी श्वसनं नासिकागतं ।
कुम्भकध्यानयोगेन सुस्थिरं कुरुते क्षणम् ॥ ६९८ ॥
निःशब्दे गतौ सन्नासाभिरन्ध्रोदरान्तरे ।
योगिना योगसामर्थ्यात्प्राणवायुः प्रभंजनः ॥ ६९९ ॥
इत्येवं गन्धवाहानामाकुंचनविनिर्गमौ ।
संसाध्य निश्चलं धत्ते चित्तमेकाग्रचिन्तने ॥ ७०० ॥
सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
त्रियोगयोगिनः साधोः शुक्लमाद्यं सुनिर्मलम् ॥ ७०१ ॥
श्रुतं चिन्ता वितर्कः स्याद्वीचारः संक्रमो मतः ।
पृथक्त्वं स्यादनेकत्वं भवत्येतत्त्रयात्मकम् ॥ ७०२ ॥
तद्यथा—

स्वशुद्धात्मानुभूत्यात्मभावश्रुतावलम्बनात् ।
अन्तर्जल्पो वितर्कः स्याद्यस्मिंस्तत्सवितर्कजम् ॥ ७०३ ॥
अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।
योगाद्योगान्तरे यत्र सवीचारं तदुच्यते ॥ ७०४ ॥
द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति गुणाद्गुणान्तरं व्रजेत् ।
पर्यायादन्यपर्यायं सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ ७०५ ॥
इति त्रयात्मकं ध्यानं ध्यायन् योगी समाहितः ।
संप्राप्नोति परां शुद्धिं मुक्तिश्रीवनितामसीम् ॥ ७०६ ॥
यद्यपि प्रतिपात्येतच्छुक्लध्यानं प्रजायते ॥
तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वास्पदं समीहते ॥ ७०७ ॥

---

१ भावश्रुतावलम्बनात् ख । २ ज क. ।

इत्यष्टमे क्षपकापूर्वकरणगुणस्थानम् ।

अनिवृत्तिगुणस्थानं ततः समधिगच्छति ।
भावं क्षायिकमाश्रित्य सम्यक्त्वं च तथाविधम् ॥ ७०८ ॥
गुणस्थानस्य तस्यैव भागेषु नवसु क्रमात् ।
नश्यन्ति तानि कर्माणि तेनैव ध्यानयोगतः ॥ ७०९ ॥
गतिः श्वाभ्री च तैरश्री तथानुपूर्विकाद्वयम् ।
साधारणत्वमुद्योतः सूक्ष्मत्वं विकलत्रयम् ॥ ७१० ॥
एकेन्द्रियत्वमातापस्त्यानगृद्ध्यादिकत्रयम् ।
आद्यांशे स्थावरत्वेन सहितान्येतानि षोडश ॥ ७११ ॥
अष्टौ मध्यकषायाश्च द्वितीयेऽथ तृतीयके ।
षंढत्वं तुर्यके स्त्रीत्वं नोकषाया षट्पंचमे ॥ ७१२ ॥
पुंवेदश्च ततः क्रोधो मानो माया विनश्यति ।
चतुर्ष्वंशेषु शेषेषु यथाक्रमेण निश्चितम् ॥ ७१३ ॥
कर्माण्येतानि षट्त्रिंशत्क्षयं नीत्वा तदन्तिमे ।
समये स्थूललोभस्य सूक्ष्मत्वं प्रापयेन्मुनिः ॥ ७१४ ॥

इति नवमे क्षपकानिवृत्तिगुणस्थानम् ।

आरोहति ततः सूक्ष्मसांपरायगुणास्पदम् ।
सूक्ष्मलोभं निगृह्णाति तत्रामावायशुक्रत ॥ ७१५ ॥

इति दशमे क्षपकसूक्ष्मकषायगुणस्थानम् ।

भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा वीतरागो महाद्युतिः ।
पूर्ववद्भावसंयुक्तो द्वितीयं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७१६ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।
संध्यायत्येकयोगेन शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥ ७१७ ॥

तद्यथा—

यद्द्रव्यगुणपर्यायपरावर्तविवर्जितम् ।
चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः ॥ ७१८ ॥

निजशुद्धात्मनिष्टत्वाद् भावश्रुतावलम्बनात् ।
चिन्तनं क्रियते यत्र सवितर्कस्तदुच्यते ॥ ७१९ ॥

निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम् ।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ ७२० ॥

इत्येकत्वमवीचारं सवितर्कमुदाहृतम् ।
तस्मिन् समरसीभावं धत्ते स्वात्मानुभूतितः ॥ ७२१ ॥

इत्येतद्ध्यानयोगेन [1]प्रोष्यन्कर्मेन्धनोत्करम् ।
निद्राप्रचलयोर्नाशं करोत्युपान्तिमक्षणे ॥ ७२२ ॥

अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च दशकं ज्ञानविघ्नयोः ।
एवं षोडशकर्माणि क्षयं गच्छन्त्यशेषतः ॥ ७२३ ॥

एतत्कर्मरिपून् हत्वा क्षीणमोहो मुनीश्वरः ।
उत्पाद्य केवलज्ञानं सयोगी समभूत्तदा ॥ ७२४ ॥

इति द्वादशं क्षीणकषायगुणस्थानम् ।

ततस्त्रयोदशे स्थाने देवदेवः सनातनः ।
भजते ध्यानयोगस्य फलादेवासुरैभरः ॥ ७२५ ॥

---

१ [illegible] ७१८ [illegible] पुस्तके । २ [illegible] ख. ।

देहास्तित्वेऽस्त्ययोगित्वं कथं तद्घटते प्रभोः ।
देहाभावे कथं ध्यानं दुर्घटं घटते कथम् ॥ ७५६ ॥

द्विकलं—

अतिसूक्ष्मशरीरस्य ह्युपान्त्यसमयावधेः ।
कायकार्यस्य सूक्ष्मस्य स्वशक्तिविगतात्मनः ॥ ७५७
अत्यन्तस्वल्पकालेन भाविप्रक्षयसंस्थितेः ।
अकिंचित्करसामर्थ्यात्तस्मादयोगिता मता ॥ ७५८ ।
तच्छरीराश्रयाद्ध्यानमस्तीति न विरुध्यते ।
निजशुद्धात्मचिद्रूपनिर्भरानन्दशालिनः ॥ ७५९ ॥
आत्मानमात्मनात्मैव ध्याता ध्यायति तत्वतः ।
उपचारस्तदान्यो हि व्यवहारनयाश्रयः ॥ ७६० ॥
उपान्त्यसमये तत्र तच्छुद्धात्मप्रचिन्तनात् ।
द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्माण्येतान्ययोगिनः ॥ ७६१ ॥
देहबन्धनसंघाताः प्रत्येकं पंच पंच च ।
आङ्गोपाङ्गत्रयं चैव षट्कं संस्थानसंज्ञकम् ॥ ७६२ ॥
वर्णाः पंच रसाः पंच षट्कं संहननात्मकम् ।
स्पर्शाष्टकं च गन्धौ द्वौ नीचानादेयदुर्भगम् ॥ ७६३
तथागुरुलघुत्वाख्यमुपघातोऽन्यघा गतः ।
निर्माणमपर्याप्तमुच्छ्वासाख्यपशस्तथा ॥ ७६४ ॥
विहायगमनद्वन्द्वं शुभस्थिरद्वयं पृथक् ।
गतिर्द्व्यानुपूर्वी च प्रत्येकं च स्वाङ्गयम् ॥ ७६५ ॥

१ संहितं । २ द. म. । ३ आतपा ख. । ४ [illegible]

दंसणवरणक्खयदो केवलदंसण मुणामभावो हु ।
चक्खुदंसणपमुहावरणीयखओवसमदो य ॥ ५ ॥

दर्शनावरणक्षयतः केवलदर्शनं मुनामभावो हि ।
चक्षुर्दर्शनप्रमुखावरणीयक्षयोपशमतश्च ॥

चक्खुअचक्खूओहीदंसणभावा हवंति णियमेण ।
पणविग्घक्खयजादा खाइयदाणादिपणभावा ॥ ६ ॥

चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनभावा भवन्ति नियमेन ।
पंचविघ्नक्षयजाताः क्षायिकदानादिपंचभावाः ॥

खाओवसमियभावो दाणं लाहं च भोगमुवभोगं ।
वीरियभेदे णेया पणविग्घखओवसमजादा ॥ ७ ॥

क्षायोपशमिकभावो दानं लाभश्च भोग उपभोगः ।
वीर्यमेते ज्ञेया पंचविघ्नक्षयोपशमजाताः ॥

दंसणमोहंति हवे मिच्छं मिस्सत्त सम्मपयडित्ती ।
अणकोहादी एदा णिद्दिट्ठा सत्तपयडीओ ॥ ८ ॥

दर्शनमोहमिति भवेत् मिथ्यात्वं मिश्रत्वं सम्यक्त्वप्रकृतिरिति । अनक्रोधादय एता निर्दिष्टाः सतकृतप्रकृतयः ॥

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
छक्कुवसमदो सम्मत्तुदयादो वेदगं सम्मं ॥ ९ ॥

सप्तानामुपशमत उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्क्षायिकं च ।
षट्कोपशमत सम्यक्त्वोदयात् वेदकं सम्यक्त्वं ॥

चारित्तमोहणीए उवसमदो होदि उवसमं चरणं ।
खयदो खइयं चरणं खओवसमदो खयउवसमचारित्तं ॥ १०

अपचक्खाणुदयादो असंजमो पढमचऊगुणहाणे।
पचक्खाणुदयादो देसजमो होदि देसगुणे ॥ १६ ॥

अप्रत्याख्यानोदयात् असंयमः प्रथमचतुर्गुणस्थाने।
प्रत्याख्यानोदयाद्देशयमो भवति देशगुणे ॥

गदिणामुदयादो(चउ)गदिणामा वेदतिदयउदयादो।
लिंगत्तयभाव(वो)पुण कसायजोगप्पवित्तिदो लेस्सा ॥१७

गतिनामोदयात् गतिनामा वेदत्रिकोदयात्।
लिंगत्रयभावः पुनः कषाययोगप्रवृत्तितो लेश्याः ॥

जाव दु केवलणाणस्सुदओ ण हवेदि ताव अण्णाणं।
कम्माण विप्पमुक्को जाव ण ताव दु असिद्धत्तं ॥ १८॥

यावत् केवलज्ञानस्योदयो न भवति तावदज्ञानं।
कर्मणां विप्रमोक्षो यावन्न तावत् असिद्धत्वं ॥

कोहादीणुदयादो जीवाणं होंति चउकसाया हु।
इदि सव्वुत्तरभावुप्पत्तिसरूवं वियाणाहि ॥ १९ ॥

क्रोधादीनामुदयात् जीवानां भवन्ति चतुष्कषाया हि।
इति सर्वोत्तरभावोत्पत्तिस्वरूपं विजानीहि ॥

उवसमखयमिस्सं [illegible] भावा य णव य मणपज्जं।
रयणत्तयसंपत्तेगुणसमणेसु होंति [illegible] ॥ २० ॥

उपशम[illegible] क्षायिका भावाः नव च मनःपर्ययं।
रत्नत्रयसम्प्राप्त[illegible] भवन्ति [illegible] ॥

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]

इति दीपिका विवरण ।

भावा खइयो उवसम मिस्सो पुण पारिणामिओदइओ ।
एदेसिं(सिं)भेदा णव दुग अट्ठारस तिण्णि इगिवीसं ॥२१॥

भावाः क्षायिक औपशमिको मिश्रः पुनः पारिणामिक औदयिकः ।
एतेषां भेदा नव द्वौ अष्टादश त्रय एकविंशतिः ॥

कम्मखयेण दु खइओ भावो कम्मुवसमम्मि उवसमियो ।
उदयो जीवस्स गुणो खओवसमिओ हवे भावो ॥ २२ ॥

कर्मक्षये हि क्षायिको भावः कर्मोपशमे उपशमकः ।
उदयो जीवस्य गुणः क्षायोपशमको भवेत् भावः ॥

कारणणिरवेक्खभवो सहावियो पारिणामिओ भावो ।
कम्मुदयजकम्मगुणो ओदयियो होदि भावो दु ॥ २३ ॥

कारणनिरपेक्षभव स्वाभाविकः पारिणामिको भावः ।
कर्मोदयजकर्मगुण औदयिको भवति भावो हि ॥

केवलणाणं दंसण सम्मं चरियं च दाण लाहं च ।
भोगुवभोगवीरियमेदे णव खाइया भावा ॥ २४ ॥

केवलज्ञानं दर्शनं सम्यक्त्वं चारित्रं च दानं लाभश्च ।
भोगोपभोगवीर्यं एते नव क्षायिका भावाः ॥

उवसमसम्मं उवसमचरणं दुण्णेव उवसमा भावा ।
चउणाणं तियदंसणमण्णाणतियं च दाणादी ॥ २५ ॥

उपशमसम्यक्त्वमुपशमचारित्रं द्वावेव उपशमौ भावौ ।
चतुर्ज्ञानं त्रिदर्शनं अज्ञानत्रिकं च दानादयः ॥

वेदग सगसचरियं देसजमं विणवमिस्सभावा हु ।
जीवत्तं भव्वत्तमभव्वत्तं तिण्णि परिणामो(मा) ॥ २६ ॥

वेदकं सम्यक्त्वमपि देशयमं विरतविरमात्रा हि ।
जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वं पारिणामिकाः ॥

ओदइओ खलु भावो गदिलेस्साकसायलिंगमिच्छत्तं ।
अण्णाणमसिद्धत्तं असंजमं वेदि इगिवीसं ॥ २७ ॥

औदयिकः खलु भावो गतिलेश्याकषायलिंगमिथ्यात्वं ।
अज्ञानमसिद्धत्वं असंयममिति एकविंशतिः ॥

पंचेव मूलभावा उत्तरभावा हवंति तेवण्णा ।
एदे सव्वे भावा जीवसरूवा मुणेयव्वा ॥ २८ ॥

पंचैव मूलभावा उत्तरभावा भवन्ति त्रिपञ्चाशत् ।
एते सर्वे भावा जीवस्वरूपा मन्तव्या ॥

उक्तं च—

मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥ १ ॥

बन्धमोक्षौ न कुर्वन्ति (इत्यर्थः) ।

मिच्छतिगऽयदचउक्के उवसमचउगम्हि खवगचउगम्हि ।
वेसु जिणेसु विसुद्धे णायव्वा मूलभावा हु ॥ २९ ॥

मिथ्यात्वत्रिकायतचतुष्के उपशमचतुष्के क्षपकचतुष्के ।
द्वयोर्जिनयोः विशुद्धा ज्ञातव्या मूलभावा हि ॥

खविगुवसमगेण विणा सेसतिभावा हु पंच पंचेव ।
उवसमहीणाचउरो मिस्सुवसमहीणतियभावा ॥ ३० ॥

क्षपकोपशकाभ्यां विना शेषत्रिभावा हि पंच पचैव ।
उपशमहीनाश्चत्वारः मिश्रोपशमहीनत्रिकभावाः ॥

खयिगो हु पारिणामियभावो सिद्धे हवंति णियमेण ।
इत्तो उत्तरभावो कहियं जाणं गुणट्ठाणे ॥ ३१ ॥

केवलज्ञानं दर्शनमनन्तवीर्यं च क्षायिकसम्यक्त्वं च।
जीवत्वं चैते पंच भावा सिद्धे भवन्ति स्फुटं॥

चदुतिगदुगछत्तीसं तिसु इगितीसं च अडडपणवीसं।
दुगइगिवीसं वीसं चउदस तेरस भावा हु॥ ४२॥

चतुस्त्रिकद्विकषट्त्रिंशत् त्रिषु एकत्रिंशच्च अष्टाष्टपंचविंशति।
द्विकैकविंशतिः विंशतिः चतुर्दश त्रयोदश भावा हि॥

उणइगिवीसं वीसं सत्तरसं तिसु य होंति बावीसं।
पणपणअट्ठावीसं इगदुगतिगणवयतीसनालसमभावा॥४३॥

एकानैकविंशतिः विंशतिः सप्तदश त्रिषु च भवन्ति द्वाविंशतिः
पंचपंचाष्टाविंशतिः एकद्विकत्रिकनवकत्रिंशच्चत्वारिंशद्भावाः॥

गुणस्थानत्रिभङ्गी समाप्ता।

सुयमुणिविणमियचलणं अणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णं।
णमिऊण वड्ढमाणं भावे वोच्छामि वित्थारे॥ ४४॥

श्रुतमुनिविनतचरणं अनन्तसंसारजलधिमुत्तीर्णं।
नत्वा वर्धमानं भावान् वक्ष्यामि विस्तारे॥

आदिमणिरए भोगजतिरिए मणुयेसु सग्गदेवेसु।
वेदगखाइयसम्मं पज्जत्तापज्जत्तगाणमेव हवे॥ ४५॥

आदिमनरके भोगजतिरश्चि मनुजेषु स्वर्गदेवेषु।
वेदकक्षायिकसम्यक्त्वं पर्याप्तापर्याप्तकानामेव भवेत्॥

पटमुवसमसम्मत्तं पज्जत्ते होदि चादुगदिगाणं।
विदिउवसमसम्मत्तं णरपज्जत्ते सुरअपज्जत्ते॥ ४६॥

---

१ मार्गणायां।

प्रथमोपशमसम्यक्त्वं पर्याप्ते भवति चातुर्गतिकानां।
द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं नरपर्याप्ते सुरापर्याप्ते ॥

सक्करपहुदिणरये वणजोइसभवणदेवदेवीणं ।
सेसत्थीणं पज्जत्तेसुवसम्मं वेदगं होइ ॥ ४७ ॥

शर्कराप्रभृतिनरके वाणज्योतिष्कभवनदेवदेवीनां ।
शेषस्त्रीणां पर्याप्तेषु उपशमं वेदकं भवति ॥

कम्मभूमिजतिरिक्खे वेदगसम्मत्तमुवसमं च हवे ।
सव्वेसिं सण्णीणं अपजत्ते णत्थि वेभंगो ॥ ४८ ॥

कर्मभूमिजतिरश्चि वेदकसम्यक्त्वमुपशमं च भवेत् ।
सर्वेषां संज्ञिनां अपर्याप्ते नास्ति विभंगः ॥

णिरये इयरगदी सुहलेसतिथीपुंसरागदेसजमं ।
मणपज्जवसमचरियं खाइयसम्मूणखाइया ण हवे ॥ ४९ ॥

नरके इतरगतयः शुभलेश्यात्रयस्त्रीपुंससरागदेशयमं ।
मनःपर्ययशमचारित्रं क्षायिकसम्यक्त्वोनक्षायिका न भवन्ति ॥

पढमदुगे कावोदा तदिए कावोदनील तुरिय अइनीला ।
पंचमणिरये नीला किण्णा य सेसगे किण्हा ॥ ५० ॥

प्रथमद्विके कापोता तृतीये कापोतनीले तुर्येऽतिनीला ।
पंचमनरके नीला कृष्णा च शेषके कृष्णा ॥

विदियादिसु छसु पुढविसु एवं णवरि असंजदट्ठाणे ।
खाइयसम्मं णत्थि हु सेसं जाणाहि पुव्वं व ॥ ५१ ॥

द्वितीयादिषु षट्सु पृथिवीषु एवं णवरि असंयतस्थाने ।
क्षायिकसम्यक्त्वं नास्ति हि शेषं जानीहि पूर्ववत् ॥

प्रथमोपशमसम्यक्त्वं पर्याप्ते भवति चातुर्गतिकानां ।
द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं नरपर्याप्ते सुरापर्याप्ते ॥

सक्करपहुदीणिरये वणजोइसभवणदेवदेवीणं ।
सेसत्थीणं पज्जत्तेसुवसमं वेदगं होइ ॥ ४७ ॥

शर्कराप्रभृतिनरके वानज्योतिष्कभवनदेवदेवीनां ।
शेषस्त्रीणां पर्याप्तेषु उपशमं वेदकं भवति ॥

कम्मभूमिजतिरिक्खे वेदगसम्मत्तमुवसमं च हवे ।
सव्वेसिं सण्णीणं अपज्जत्ते णत्थि वेभंगो ॥ ४८ ॥

कर्मभूमिजतिरश्चि वेदकसम्यक्त्वमुपशमं च भवेत् ।
सर्वेषां संज्ञिनां अपर्याप्ते नास्ति विभंगः ॥

णिरये इयरगदी सुहलेस्सतिथीपुंससाणदेसजमं ।
मणपज्जवमणगारियं खाइयसम्मणराइणा ण हवे ॥ ४९ ॥

नारके इतरगतौ शुभलेश्यास्त्रीपुंससासादनदेशयमं ।
मनःपर्ययमनगारित्वं क्षायिकसम्यक्त्व [illegible] न भवति ।

पढमदुगे काओदा तदिए काओदणील तुरिये अइणीला ।
पंचमणिरये णीला किण्हा य संगमे किण्हा ॥ ५० ॥

प्रथमद्विके कापोता तृतीये कापोतनीले तुरीये अतिनीला ।
पञ्चमनरके नीला कृष्णा च सप्तमे कृष्णा ॥

विदियादिसु छसु पुढविसु सव्वे णत्थि अणंतदहणं ।
[illegible] णत्थि हु [illegible] आगादि पुढ्वे व ॥ ५१ ॥

[illegible]
[illegible] ॥

एवं भोगजतिरिए पुण्णे किण्हतिलेस्सदेसजमं ।
थीसंढं ण हि तेसिं खाइयसम्मत्तमत्थित्ति ॥ ५६ ॥

एवं भोगजतिरश्चि पूर्णे कृष्णत्रिलेश्यादेशसंयमं ।
स्त्रीषण्ढ न हि तेषां क्षायिकसम्यक्त्वमस्तीति ॥

णिव्वत्तिअपज्जत्ते अवणिय सुहलेस्स किण्हतिहजुत्ता ।
वेभंगुवसमसम्मं ण हि अयदे अवरकावोदा ॥ ५७ ॥

निर्वृत्यपर्याप्ते अपनीय शुभलेश्याः कृष्णत्रिकयुक्ताः ।
विभंगोपशमसम्यक्त्वं न हि अयते अवरकापोता ॥

लद्धिअपुण्णतिरिक्खे वामगुणट्ठाणभावमज्झम्मि ।
थीपुंसिदरगदीतिग सुहतियलेस्सा ण वेभंगो ॥ ५८ ॥

लब्ध्यपूर्णतिरश्चि वामगुणस्थानभावमध्ये ।
स्त्रीपुंसितरगतित्रिकं शुभत्रिकलेश्या न विभंगः ॥

भोगजतिरिइत्थीणं अवणिय पुंवेदमित्थिसंजुत्तं ।
तासिं वेदगसम्मं उवसमसम्मं च दो चेव ॥ ५९ ॥

भोगजतिर्यक्स्त्रीणां अपनीय पुवेदं स्त्रीसंयुक्तं ।
तासां वेदकसम्यक्त्वं उपशमसम्यक्त्वं च द्वे चैव ॥

तासिमपज्जत्तीणं किण्हातियलेस्स हवंति पुण ।
ण मण्णाणतिगं ओही दंसणसम्मत्तजुगलवेभंगं ॥ ६० ॥

तासामपर्याप्तीनां कृष्णात्रिकलेश्या भवन्ति पुनः ।
न सज्ञानत्रिकं अवधिदर्शनसम्यक्त्वयुगलविभंगं ॥

मणुवेसिदरगदीतियहीणा भावा हवंति तत्थेव ।
णिव्वत्तिअपज्जत्ते मणदुगुवसमणदुगं ण वेभंगं ॥ ६१ ॥

मनुष्येत्विनरगातेत्रिकहीना भावा भवन्ति तत्रैव।
निर्वृत्यपर्याप्ते मनोदेशोपशमनद्विकं न विभंगं॥

साणे थीसंढच्छिदी मिच्छे साणे असंजदपमत्ते।
जोगिगुणे दुगचदुचदुरिगिवीसं णवच्छिदी कमसो॥ ६२॥

सासादने स्त्रीषंढच्छित्तिः मिथ्यात्वे सासादने असंयतप्रमत्ते।
योगिगुणे द्विकचतुःचतुरेकविंशतिः नवच्छित्तिः क्रमशः॥

लद्धिअपुण्णमणुस्से वामगुणट्ठाणभावमज्झिम्हि।
थीपुंसिदरगदीतियसुहतियलेस्सा ण वेभंगो॥ ६३॥

लब्ध्यपूर्णमनुष्ये वामगुणस्थानभावमध्ये।
स्त्रीपुंसितरगतित्रिकशुभत्रिकलेश्या न विभंगं॥

मणुगुव्व दव्वभाविथी पुंसंढखाइया भावा।
उवसमसरागचरणं मणपज्जवणाणमवि णत्थि॥ ६४॥

मनुष्यवद्द्रव्यभावस्त्रीषु पुंषण्ढक्षायिका भावाः।
उपशमसरागचरणं मनःपर्ययज्ञानमपि नास्ति॥

तासिमपज्जत्तीणं वेभंगं णत्थि मिच्छगुणठाणे।
सासादणगुणठाणे पवट्टणं होदि णियमेण॥ ६५॥

तासामपर्याप्तीनां विभंगं नास्ति मिथ्यात्वगुणस्थाने।
सासादनगुणस्थाने प्रवर्तनं भवति नियमेन॥

उवसमखाइयसम्मं णियपरिणामा खओवसमिएसु।
मणपज्जवदेसजमं सरागचरिया ण सेस हवे॥ ६६॥

उपशमक्षायिकसम्यक्त्वं निजपरिणामाः क्षायोपशमिकेषु।
मनःपर्ययदेशयमं सरागचारित्रं न शेषा भवन्ति॥

ओदइए थी संढे अण्णगदीनिदियसमसुहतियलेस्सं ।
अवणिय सेसा हुंति हु भोगजमणुवेसु पुण्णेसु ॥ ६७॥

औदयिके स्त्री षंढे अन्यगतिनिन्द्रियसमसुमत्रिकलेश्याः ।
अपनीय शेषा भवन्ति हि भोगजमनुष्येषु पूर्णेषु ॥

तण्णिव्वत्तिअपुण्णे असुहतिलेस्सेव उवसमं सम्मं ।
वेभंगं ण हि अयदे जहण्णकाओदलेस्सा हु ॥ ६८॥

तन्निर्वृत्त्यपूर्णे अशुभत्रिलेश्या एव, उपशमं सम्यक्त्वं ।
विभंगं न हि अयते जघन्यकापोतलेश्या हि ॥

एवं भोगत्थीणं खाइयसम्मं च पुंसवेदं च ।
ण हि थीवेदं विज्जदि सेसं जाणाहि पुव्वं व ॥ ६९॥

एवं भोगस्त्रीणां क्षायिकसम्यक्त्वं च पुंवेदं च ।
न हि, स्त्रीवेदो विद्यते शेषं जानीहि पूर्ववत् ॥

तदपज्जत्तीसु हवे असुहतिलेस्सा हु मिच्छदुगठाणं ।
वेभंगं च ण विज्जदि मणुवगदिणिव्वदिदा एवं ॥ ७०॥

तदपर्याप्तिकासु भवेदशुभत्रिलेश्या हि मिथ्यद्विकस्थानं ।
विभंगं च न विद्यते मनुष्यगतिनिर्वृत्ता एवं ॥

देवाणं देवगदी सेसं पल्लभोगमणुवं वा ।
भवणतिगाण कविट्ठीण ण हि खाइय सम्मं ॥ ७१ ॥

देवानां देवगतिः [illegible] मनुष्यवत् ।
[illegible] सम्यक्त्वं ॥

भवणतिगाकम्मइगे णउंसगा ण पढमसम्मं वेऊ ।
[illegible] ॥ ७२ ॥

भवनत्रिकसौधर्मद्विके तेजोजघन्यं तु मध्यमं तेजः।
सनत्कुमारयुगले तेजोवरं पद्मावरं खलु ॥

ब्रह्माछके पम्मा सदरदुगे पम्मसुक्कलेस्सा हु।
आणदतेरे सुक्का सुक्कुक्कसा अणुदिसादीसु ॥ ७३ ॥

ब्रह्मषट्के पद्मा सतारद्विके पद्मशुक्लेश्ये हि।
आनतत्रयोदशसु शुक्ला शुक्लोत्कृष्टा अनुदिशादिषु ॥

पुंवेदो देवाणं देवीणं होदि थीवेदं।
भुवणतिगाण अपुण्णे असुहतिलेस्सेव णियमेण ॥ ७४ ॥

पुंवेदो देवानां देवीनां भवति स्त्रीवेदः।
भुवनत्रिकानां अपूर्णे अशुभत्रिलेश्या एव नियमेन ॥

कप्पित्थीणमपुण्णे तेऊलेस्साएं मज्झिमो होदि।
उभयत्थ ण वेभंगो मिच्छो सासणगुणो होदि ॥ ७५ ॥

कल्पस्त्रीणामपूर्णे तेजोलेश्यायाः मध्यमो भवति।
उभयत्र न विभंगं मिथ्यात्वं सासादनगुणो भवति ॥

सोहम्मादिसु उवरिमगेविज्जंतेसु जाव देवाणं।
णिव्वत्तिअपुण्णाणं ण विभंग पढमविदियतुरियठाणा ॥ ७६ ॥

सौधर्मादिषु उपरिमग्रैवेयकान्तेषु यावद्देवानां।
निर्वृत्यपूर्णानां न विभंगं प्रथमद्वितीयतुर्यस्थानानि ॥

अणुदिसु अणुत्तरेसु हि जादा देवा हवंति सद्दिट्ठी।
तम्हा मिच्छमभव्वं अण्णाणतिगं ण ण हि तेसिं ॥ ७७ ॥

अनुदिशेषु अनुत्तरेषु जाता देवा भवन्ति सद्दृष्टयः।
तस्मान्मिथ्यात्वमभव्यत्वं अज्ञानत्रिकं च न हि तेषां ॥

१ अत्र ह्वारचह्‌ द्वहरोयारः।

इति गतिमार्गणा।

एयक्खविगतिगक्खे तिरियगदी संढकिण्हतियलेस्सा।
मिच्छकसायासंजममणाणमसिद्धमिदि एदे ॥ ७८ ॥

एकाक्षद्वित्र्यक्षे तिर्यग्गतिः षंढकृष्णत्रिकलेश्याः।
मिथ्यात्वकषायासंयमं अज्ञानमसिद्धमित्येते ॥

दाणादिकुमदिकुसुदं अचक्खुदंसणमभव्वभव्वत्तं।
जीवत्तं चेदेसिं चदुरक्खे चक्खुसंजुत्तं ॥ ७९ ॥

दानादिकुमतिकुश्रुत अचक्षुर्दर्शनमभव्यत्वभव्यत्वे।
जीवत्वं चैतेषां चतुरक्षे चक्षुःसंयुक्तम् ॥

पंचेंदिएसु तसकाइएसु दु सव्वे हवंति भावा हु।
एयं वा पणकाए ओराले णिरयदेवगदीहीणा ॥ ८० ॥

पंचेन्द्रियेषु त्रसकायिकेषु तु सर्वे भवन्ति भावा हि।
एकं वा पंचकाये औदारिके नरकदेवगतिहीनाः ॥

ओरालं वा मिस्से ण हि वेभंगो सासणदेसजमं।
मणपज्जवसमभावा णाणे थीसंढवेदछिदी ॥ ८१ ॥

औदारिकवत् मिश्रे न हि विभंगः सासादनदेशयमौ।
मनःपर्ययशमभावौ ज्ञाने स्त्रीषंढवेदच्छित्तिः ॥

मिच्छाइट्ठिट्ठाणे सासणठाणे असंजदट्ठाणे।
दुग चदु पणवीसं पुण सजोगठाणम्मि णवयछिदी ॥ ८

मिथ्यादृष्टिस्थाने सासादनस्थाने असंयतस्थाने।
द्वौ चत्वारः पंचविंशतिः पुनः सयोगस्थाने नवकच्छित्तिः।

वेगुव्वे णो संति हु मणपज्जुवसमणाणदेसजमं।
खाइयसम्मपुणा खाइयभावा य तिरियमणुयगदी ॥ ८

१ [illegible]।

मज्झिमचउमणवयणे खाइयदुगहीणखाइया ण हवे।
पुण सेसे मणवयणे सव्वे भावा हवंति फुडं ॥ ८९ ॥

मध्यमचतुर्मनोवचने क्षायिकद्विकहीनक्षायिका न भवन्ति।
पुनः शेषे मनोवचने सर्वे भावा भवन्ति स्फुटं ॥

पुवेदे संढित्थीणिरयगदीहीणसेसओदइया।
मिस्सा भावा तियपरिणामा खाइयसम्मत्तउवसमं सम्मं ॥९

पुंवेदे षंडस्त्रीनरकगतिहीनशेषौदयिकाः। मिश्रा भावाः—
त्रिकपारिणामिकाः क्षायिकसम्यक्त्वमुपशमं सम्यक्त्वं ॥

इत्थीवेदे वि तहा मणपज्जवपुरिसहीणइत्थिजुदं।
संढे वि तहा इत्थीदेवगदीहीणणिरयसंढजुदं ॥ ९१ ॥

स्त्रीवेदेऽपि तथा मनःपर्ययपुरुषहीनस्त्रीयुक्तं।
षंढेऽपि तथा स्त्रीदेवगतिहीननरकषंडयुक्ताः ॥

कोहचउक्काणेक्के पगडी इदरा य उवसमं चरणं।
खाइयसम्मत्तूणा खाइयभावा य णो संति ॥ ९२ ॥

क्रोधचतुष्काणां एका प्रकृतिः, इतराश्च उपशमं चरणं।
क्षायिकसम्यक्त्वोनाः क्षायिकभावाश्च नो सन्ति ॥

एवं माणादितिए सुहुमसरागुत्ति होदि लोहो हु।
अण्णाणतिए मिच्छा-इट्ठिस्स य होंति भावा हु ॥ ९३ ॥

एवं मानादित्रिके सूक्ष्मसराग इति भवति लोभो हि।
अज्ञानत्रिके मिथ्यादृष्टेः च भवन्ति भावा हि ॥

केवलणाणं दंसण खाइणदाणादिपंचकं च पुणो।
कुमइति मिच्छमभव्वं सण्णाणतिगम्मि णो संति ॥ ९४

केवलज्ञानं दर्शनं क्षायिकदानादिपंचकं च पुनः ।
कुमतित्रिकं मिथ्यात्वमभव्यत्वं सेज्ञानत्रिके नो सन्ति ॥

मणपज्जे मणुवगदी पुवेदसुहतिलेस्सकोहादी ।
अण्णाणमसिद्धत्तं णाणति दंसणति च दाणादी ॥ ९५ ॥

मनःपर्यये मनुष्यगति पुंवेदशुभत्रिलेश्याक्रोधादयः ।
अज्ञानमसिद्धत्वं ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च दानादयः ॥

वेदगखाइयसम्मं उवसमखाइयसरागचारित्तं ।
जीवत्तं भव्वत्तं इदि एदे संति भावा हु ॥ ९६ ॥

वेदकक्षायिकसम्यक्त्वं उपशमक्षायिकसरागचारित्रं ।
जीवत्वं भव्यत्वमित्येते सन्ति भावा हि ॥

केवलणाणे खाइयभावा मणुवगदी सुक्कलेस्साइ ।
जीवत्तं भव्वत्तमसिद्धत्तं चेदि चउदसा भावा ॥ ९७ ॥

केवलज्ञाने क्षायिकभावा मनुष्यगतिः शुक्ललेश्या ।
जीवत्वं भव्यत्वमसिद्धत्वं चेति चतुर्दश भावाः ॥

ओदइया भावा पुण णाणति दंसणतियं च दाणादी ।
सम्मत्तति अण्णाणति परिणामति य असंजमे भावा ॥९८॥

औदयिका भावाः पुनः ज्ञानत्रिकं दर्शनत्रिकं च दानादय. ।
सम्यक्त्वत्रिकं अज्ञानत्रिकं पारिणामिकत्रिकं च असंयमे भावाः॥

देसजमे सुहलेस्सतिवेदतिणरतिरियगदिकमाया हु ।
अण्णाणमसिद्धत्तं णाणतिदंसणतिदेसदाणादी ॥ ९९ ॥

देशयमे शुभलेश्यात्रिवेदत्रिनरकातिर्यग्गतिकषाया हि ।
अज्ञानमसिद्धत्वं ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकदेशदानादयः ॥

---

१ ' भावा हु ' पाठ. पुस्तके । वारद्वये लिखितेयं गाथा पुस्तके तत्र एकस्मिन् स्थाने दूरीकृता ।

जीवत्तं भव्वत्तं सम्मत्ततियं सामाइयदुगे एवं ।
तिरियगदिदेसहीणा मणपज्जवसरागजमसहियं ॥१००॥

जीवत्वं भव्यत्वं सम्यक्त्वत्रिकं सामायिकद्विके एवं ।
तिर्यग्गतिदेशहीना मनःपर्ययसरागयमसहिताः ॥

एवं परिहारे मण-पज्जवथीसंढहीणया एवं ।
सुहमे मणजुद हीणा वेदतिकोहतिदयतेयदुगा ॥ १०१ ॥

एवं परिहारे मनःपर्ययस्त्रीषंढहीनका एवं ।
सूक्ष्मे मनोयुक्ता हीना वेदत्रिकक्रोधत्रितयतेजोद्विकाः ॥

जहखाइए वि एदे सरागजमलोहहीणभावा हु ।
उवसमचरणं खाइयभावा य हवंति णियमेण ॥ १०२ ॥

यथाख्यातेऽपि एते सरागयमलोभहीनभावा हि ।
उपशमचरणं क्षायिकभावाश्च भवन्ति नियमेन ॥

चक्खुजुगे आलोए खाइयसम्मत्तचरणहीणा दु ।
सेसा खाइयभावा णो संति हु ओहिदंसणे एवं ॥ १०३ ॥

चक्षुर्युगे आलोके क्षायिकसम्यक्त्वहीनास्तु ।
शेषाः क्षायिकभावा नो सन्ति हि अवधिदर्शने एवं ॥

तेसिं मिच्छमभव्वं अण्णाणतियं च णत्थि णियमेण ।
केवलदंसण भावा केवलणाणेव णायव्वा ॥ १०४ ॥

तेषां मिथ्यात्वं अभव्यत्वं अज्ञानत्रिकं च नास्ति नियमेन ।
केवलदर्शने भावा केवलज्ञानवत् ज्ञातव्याः ॥

किण्हतिये सुहलेस्सति मणपज्जुवसमसरागदेसजमं ।
खाइयसम्मत्तूणा खाइयभावा य णो संति ॥ १०५ ॥

कृष्णात्रिके शुभलेश्यात्रिकमनःपर्ययोपशमसरागदेशयमाः ।
क्षायिकसम्यक्त्वोना क्षायिकभावाश्च नो सन्ति ॥

ण हि णिरयगदी किण्हति सुक्कं उवसमचरित्त तेउदुगे।
खाइयदंसणणाणं चरित्ताणि हु खइयदाणादी ॥ १०६ ॥

न हि नरगतिः कृष्णत्रिके शुक्लं उपशमचारित्रं तेजोद्विके।
क्षायिकदर्शनज्ञानं चारित्रं हि क्षायिकदानादयः ॥

णो संति सुक्कलेस्से णिरयगदी इयरपंचलेस्सा हु।
सव्वे भव्वे भावा मिच्छट्ठाणम्हि अभव्वस्स ॥ १०७ ॥

नो सन्ति शुक्ललेश्यायां नरकगतिः इतरपंचलेश्या हि।
भव्ये सर्वे भावा मिथ्यादृष्टिस्थाने अभव्यस्य ॥

मिच्छरुचिम्हि य जी(भा)वा चउतीसा सासणम्हि बत्तीसा।
मिस्सम्हि दु तित्तीसा भावा पुव्वत्तपरिणामा ॥ १०८ ॥

मिथ्यारुचौ च भावा चतुस्त्रिंशत् सासने द्वात्रिंशत्।
मिश्रे तु त्रयस्त्रिंशत् भावाः पूर्वोक्तपरिणामाः ॥

मिच्छमभव्वं वेदगमण्णाणतियं च खाइया भावा।
ण हि उवसमसम्मत्ते सेसा भावा हवंति तहिं ॥ १०९ ॥

मिथ्यात्वमभव्यं वेदकमज्ञानत्रिकं च क्षायिका भावाः।
न हि उपशमसम्यक्त्वे शेषा भावा भवन्ति तत्र ॥

उवसमभावूणेदे वेदगभावा हवंति एदेसिं।
अवणिय वेदगमुवसमजमखाइयभावसंजुत्ता ॥ ११० ॥

उपशमभावोना एते वेदकभावा भवन्ति एतेषां।
अपनीय वेदकं उपशमयमक्षायिकभावसंयुक्ताः ॥

खाइयसम्मत्तेदे भावा समदहमि ? केवलं णाणं।
दंसण खाइयदाणादिया य हवंति णियमेण ॥ १११ ॥

क्षायिकसम्यक्त्वे एते भावाः सैद्धिके केवले ज्ञाने।
दर्शने क्षायिकदानादिका न भवन्ति नियमेन ॥

तिरियगदि लिंगमसुहतिलेस्सकसायासंजममसिद्धं ।
अण्णाणं मिच्छत्तं कुमइदुगं चक्खुदुगं च दाणादी ॥११२॥
तिर्यग्गतिः लिङ्ग अशुभत्रिकलेश्याकषायासंयमा असिद्धत्वम् ।
अज्ञान मिथ्यात्वं कुमतिद्विकं चक्षुर्द्विकं च दानादयः ॥

तियपरिणामा एदे असण्णिजीवस्स संति भावा हु ।
आहारेऽखिलभावा मणपज्जवसमसरागदेसजमं ॥ ११३ ॥
त्रिकपारिणामिका एते असंज्ञिजीवस्य सन्ति भावा हि ।
आहारेऽखिलभावा मन पर्ययशमसरागदेशयमं ॥

वेभंगमणाहारे णो संति हु सेसभावगणणा य ।
विच्छित्ति गुणट्ठाणा कम्मणकायम्हि वणिदव्वा ॥११४॥
विभंगमनाहारे नो संनि हि शेषभावगणना च ।
विच्छित्ति. गुणस्थानानि कार्मणकाये वर्णितव्यानि ॥

अरहंतसिद्धसाहूतिदयं जिणधम्मवयणपडिमाओ ।
जिणणिलया इदि एदे णव देवा दिंतु मे बोहिं ॥ ११५ ॥
अर्हत्सिद्धसाधुत्रितयं जिनधर्मवचनप्रतिमा ।
जिननिलया इत्येते नव देवा ददतु मे बोधिं ॥

इदि गुणमग्गणठाणे भावा कहिया पबोहसुयमुणिणा ।
सोहंतु ते मुणिंदा सुदपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥ ११६ ॥
इति गुणमार्गणास्थाने भावा कथिता प्रबोधश्रुतमुनिना ।
शोधयन्तु तान् मुनीन्द्राः श्रुतपरिपूर्णास्तु गुणपूर्णाः ॥

इति मुनि श्रीश्रुतमुनि कृता भावत्रिभंगी*
समाप्ता ।

---

*'भावसंग्रह समाप्त' इति पुस्तकान्तर पाठः । प्रारंभ इतिश्रितनामगुणोऽत्र परिवर्तित ।



अथ संदृष्टि-रचना।

गुणस्थान रचना।

मि.	सा.	मि.	अ	दे	प्र	अ	अपू	अ	अ	सू.	उप	क्षी.	स	अयो
२	३	०	६	२	०	१	०	३	३	२	२	१३	१	८
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

सामान्य नरक-रचना ३३

मि	सा.	मि	अ.
२	३	०	५
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

नारकापर्याप्त ३१

मि.	अ
२	३
२५	२५
६	६

घम्मा ३१

मि	सा	मि	अ
२	३	०	३
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

अपर्याप्त। २९

मि	अ
४	३
२३	२५
६	४

वंशा ३०

मि	सा.	मि	अ
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

मेघा ३१

मि	सा	मि	अ
२	३	०	४
२५	२३	२४	२६
६	८	७	५

अंजना ३०

मि	सा	मि	अ
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

अदिशा

३१

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	४
२५	२३	२४	२६
६	८	७	५

मघवी-माघवी

३०

मि.	सा	मि	अ
२	३	०	३
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

सप्तमनारकापर्याप्त

मि.
०
२३
०

कर्मभूमिजतिर्यग्

३८

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.
२	३	०	४	२
३१	२९	३०	३२	२९
७	९	८	६	९

तदपर्याप्त

३०

मि.	सा.
२	२
३०	२८
०	२

भोगभूमिजतिर्यग्

३३

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

तदपर्याप्त

३१

मि.	सा.	अ.
२	४	३
२५	२३	२५
६	८	३

ल. अ

२५

मि
०
२५
०

भोगभूमिजतिरश्ची

३२

मि	सा	मि.	अ
२	३	०	२
२६	२४	२५	२७
६	८	७	५

तदपर्याप्त

२५

मि	सा
२	२
२५	२३
०	२



सामान्यदेव ३३

मि.	मा	मि.	अ.
२	३	०	२
२६	२४	२५	२८
७	९	८	५

भवनत्रिककल्पस्त्री ३०

मि.	मा.	मि.	अ
२	३	०	२
२४	२२	२३	२५
६	८	७	५

भ. स्त्री. अ. २५

मि.	सा.
२	२
२५	२३
०	२

क. स्त्री. अ २२

मि.	सा
२	२
२३	२१
०	२

सौधर्मैशानदेव ३१

मि.	मा.	मि.	अ
२	३	०	२
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

तदपर्याप्त ३०

मि.	सा	अ.
२	२	२
२३	२१	२६
७	९	४

सानत्कुमारमाहेन्द्र ३२

मि	मा.	मि	अ.
२	३	०	२
२५	२३	२४	२७
७	९	८	५

तदपर्याप्त ३१

मि.	सा.	अ.
२	२	२
२४	२२	२७
७	९	४

ब्रह्मादिषट् ३१

मि.	मा.	मि.	अ.
२	३	०	२
२४	२२	२३	२६
७	९	८	५

तदपर्याप्त ३०

मि	मा.	अ
२	२	२
२३	२१	२६
७	९	४

शतारसहस्रार ३२

मि	सा.	मि	अ.
२	३	०	२
२५	२३	२४	२७
७	९	८	५

तदपर्याप्त २९

मि.	सा	अ
२	२	२
२२	२७	२४
७	९	४

आनतादिरचना १३, तदपर्याप्त अनु १४, एकद्वित्रिचतुरिन्द्रिय, च

११

मि	सा	मि.	अ.
१	१	०	१
२४	२१	२१	२६
०	१	८	५

१०

मि	सा.	अ
२	२	२
२६	२१	२६
७	१	४

२६

अ.
०
२६
०

२४

मि	सा
१	०
२४	२२
०	१

२५

मि	सा
१	०
२५	२२
०	१

पञ्चेन्द्रियेषु त्रसकायेषु च पृ. अ. व.

५१

मि	सा.	मि	अ.	दे.	प्र	अ	अ	अ.	अ	सू	उ	क्षी	स.	अ
१	१	०	६	२	०	१	०	१	१	२	२	११	१	८
१७	११	११	१६	११	११	११	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

१५

मि	सा.
१	१
२४	२२
-	१

मि. सा. औदारिककाययोगेषु

२४

प्र
१
२४
०

५१

प्र	सा.	मि.	अ	दे.	प्र	अ	अ	अ	अ	सू	उ	क्षी	स
१	१	०	४	१	०	१	०	१	१	१	१	११	८
११	१०	११	१४	११	११	११	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१७	२०	१०	२०	२२	२२	२२	२९	१०	३३	३७

१७

औदारिक-मिश्र

४५

मि.	सा.	अ.	स.
२	४	२५	९
३१	२९	३१	१४
१४	१६	१२	३१

वैक्रियिक-योग

३९

मि.	सा.	मि.	अ.
२	३	०	६
३२	३०	३१	३४
७	९	८	५

तद्पर्यांत आ० योग

३८

मि.	सा.	अ.
२	४	०
३१	२७	३२
७	११	६

२१

प्र
६
२३
०

कार्मणयोग.

४८

मि.	सा.	अ.	स
२	३	२९	९
३१	३०	२५	१४
१५	१८	१२	३४

सत्यानुभय-मनोवचन।

५१

मि.	मा.	मि	अ	दे	प्र	अ.	अ	अ	अ	सू	उ	क्षी.	स
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	१	११	९
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	१०	१४
१९	२१	२०	१७	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	१९

असत्योभयमनोवचन।

४६

मि	मा.	मि	अ	दे	प्र	अ	अ	अ	अ	सू	उ	क्षी
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	१	१	११
३४	३२	३३	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१४	१३	१०	१५	१५	१५	१६	१६	२१	२४	२५	२१

पुंवेदरचना।

४१

न	सा	प्र	अ.	द	प्र	अ	अ	अ	अ
२	१	०	५	२	०	१	०	१	१
१	१९	१०	११	२१	२९	२९	२६	२६	२५
१०	१२	२१	८	११	१२	१२	१५	१५	१६

स्त्रीवेदरचना।

४०

दे	सा	मि.	अ	दे	प्र	अ	अ	अ	अ
२	१	०	५	२	०	१	०	१	१
११	२५	१०	११	२९	२८	२८	१५	१५	२७
९	११	१०	०	११	१२	१२	१५	१५	१६

नपुंसकवेदरचना।

४०

दे	सा	मि	अ	दे	प्र	अ.	अ	अ.	अ
२	१	०	५	२	०,	१	०	१	१
११	२२	१०	११	२१	२७	२८	२५	२५	२७
९	११	१०	०	११	१२	१२	१५	१५	१६

क्रोधमानमायारचना।

४०

मि.	सा	मि.	अ.	दे.	प्र.	अ.	अ	अ.	अ
२	३	०	६	२	०	३	०	३	१
३१	२९	३०	३३	२८	२८	२८	२५	२५	२२
९	११	१०	७	११	१२	१२	१५	१५	१६

लोभरचना।

४१

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र	अ	अ	अ	अ.	सू
२	३	०	६	२	०	३	०	३	०	२
३१	२९	३०	३३	२८	२८	२८	२५	२५	२२	२२
१०	१२	११	८	१३	१३	१३	१६	१६	१९	१९

अज्ञानत्रय

३४

मि.	सा
२	३
३४	३२
०	२

सम्यग्ज्ञानत्रय

४१

अ	दे	प्र	अ	अ	अ.	अ.	सू	उ.	क्षी
६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३
३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०
५	१०	१०	१०	१३	१३	१६	१९	२०	२१

मनःपर्यय

३०

प्र	अ	अ	अ	अ	सू	उ	क्षी
०	३	०	१	३	२	१	१३
२८	२८	२५	२५	२४	२१	२०	२०
२	२	५	५	६	९	१०	१०

केवल

१४

स	अ
१	०
१४	१३
०	१

असंयम

४१

मि	सा	मि	अ
२	३	०	६
३४	३२	३३	३६
०	९	८	५

देश

३१

दे
०
३१
०

सामायिक छे०	परिहार	सूक्ष्म०	यथाख्यात
३१	२८	२२	२९

प्र	अ.	अ	अ	अ
०	१	०	१	१
११	११	२८	२८	२५
०	०	१	२	६

प्र.	अ.
०	१
२८	२८
०	०

सू.
०
२२
०

उ	क्षी	स	अ
२	१२	१	८
२१	२०	१४	११
८	९	१५	१६

चक्षुरचक्षुर्दर्शन

४६

नि	सा.	मि	अ.	दे	प्र.	अ	अ	अ.	अ.	सू	उ	क्षी.
२	१	०	१	२	०	१	०	१	१	२	२	१२
१४	१२	११	११	११	११	११	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१७	११	१०	१५	१५	१५	१८	१८	२१	२४	२५	२६

अवधिदर्शन	केवलदर्शन
४१	१४

अ.	दे.	प.	अ.	अ	अ.	अ.	सू.	उ.	क्षी.
६	२	०	१	०	१	१	२	२	१२
११	११	११	११	२८	२८	२५	२२	२१	२०
५	१०	१०	१०	११	११	१६	१९	२०	११

स.	अ
१	८
१४	११
०	१

कृष्णत्रय

३८

मि.	सा.	मि.	अ
२	४	०	५
३१	२९	२९	३२
७	९	९	६

पीतपद्म

३९

मि	सा	मि	अ	दे.	प्र	अ.
२	३	०	२	२	०	३
२९	२७	२८	३१	३०	३०	३०
१०	१२	११	८	९	९	९

शुक्ललेश्या

४०

मि.	सा.	मि.	अ	दे.	प्र	अ.	अ	अ	अ	सू	उ.	क्षी	स
२	३	०	२	२	०	१	०	३	३	२	२	१३	१
२८	२६	२७	३०	२९	२९	२९	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१९	२१	२०	१०	१८	१८	१८	१९	१९	२२	२५	२६	२७	३३

भव्य

५३

मि	सा	मि.	अ.	दे	प्र	अ.	अ	अ	अ	सू	उ	क्षी	स.	अ
२	३	०	६	२	०	३	०	३	३	२	२	१३	१	८
१४	३२	३२	३६	३१	३१	३१	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४	१३
१९	२१	२०	१०	२२	२२	२२	२५	२५	२८	३१	३२	३३	३९	४०

अभव्य

३४

मि
०
३४
०

मि.

३४

मि
०
३४
०

सा.

३२

सा
०
३२
०

मि

३३

मि
०
३३
०

उपशम

३८

अ	दे	प्र	अ	अ.	अ	सू	उ.
१	२	०	२	०	१	१	१
३४	२९	३०	२९	२०	२४	२१	२०
४	९	०	९	११	१४	१०	१८

वेदक
१७

अ.	दे.	प्र.	अ.
१	२	०	१
१४	२९	२९	२९
१	८	८	८

क्षायिक
४१

अ.	दे.	प्र	अ	अ	अ.	अ	नृ	उ	श्री	स	अ
१	२	०	२	०	१	१	२	१	११	१	८
१४	२९	२९	२९	२७	२०	१४	२१	२०	२०	१४	११
१२	१०	१०	१०	१९	१९	२१	२५	२६	२६	१२	११

संज्ञिरचना.
४६

से.	गा.	मि	अ	दे	प्र	अ	अ	अ	अ	नृ	उ	श्री.
२	१	०	१	२	०	१	०	१	१	२	२	११
१४	१२	११	१६	११	१३	१३	२८	२८	२५	२२	२१	२०
१२	१४	११	१०	१५	१५	१५	१८	१८	२१	२४	२५	२६

असंज्ञि.
२०

मि	सा
२	१
२०	२५
०	२

आहारकरचना
११

मि	सा.	मि	अ	दे	प्र	अ	अ	अ	अ	नृ	उ	स्त्री	स
२	१	०	१	२	०	१	०	१	१	२	२	११	१
१४	१२	११	११	११	११	११	२८	२८	२५	२२	२१	२०	१४
१२	२१	२०	१०	२२	२२	२२	२५	२५	२८	११	१२	११	१२

अनाहारक.
४६

मि	सा	अ	अ.
२	१	१	२
११	१०	१५	१४
१५	१८	११	१४

इति संदृष्टि रचना समाप्त ।

इति भाव-त्रिभङ्गी समाप्ता।

श्री-श्रुतमुनि-विरचिता

आस्रव-त्रिभङ्गी ।

संदृष्टि-सहिता ।

पणमिय सुरेंदपूजियपयकमलं वड्ढमाणममलगुणं ।
पच्चयसत्तावण्णं वोच्छे हं सुणह भवियजणा ॥ १ ॥

प्रणम्य सुरेन्द्रपूजितपदकमलं वर्धमानं अमलगुणं ।
प्रत्ययसप्तपंचाशान् वक्ष्येऽहं शृणुत भव्यजना ॥

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणवीसा पण्णरसा होंति तब्भेया ॥ २ ॥

मिथ्यात्वमविरमणं कषाया योगाश्च आस्रवा भवन्ति ।
पंच द्वादश पंचविंशतिः पंचदश भवन्ति तद्भेदाः ॥

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्चअत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानां ।
एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥

छस्सिंदिएसुऽविरदी छज्जीवे तह य अविरदी चेव ।
इंदियपाणासंजम दुदसं होदित्ति णिद्दिट्ठं ॥ ४ ॥

षट्स्विन्द्रियेष्वविरतिः षड्जीवेषु तथा चाविरतिश्चैव ।
इन्द्रियप्राणासंयमा द्वादश भवन्तीति निर्दिष्टं ॥

इति भाव-त्रिभङ्गी समाप्ता ।

अणमप्पचक्खाणं पच्चक्खाणं तहेव संजलणं ।
कोहो माणो माया लोहो सोलस कसायेदे ॥ ५ ॥

अनमप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानः तथैव संज्वलनः ।
क्रोधो मानो माया लोभः षोडश कषाया एते ॥

हस्स रदि अरदि सोयं भयं जुगंछा य इत्थिपुंवेयं ।
संढं वेयं च तहा णव एदे णोकसाया य ॥ ६ ॥

हास्यं रतिः अरतिः शोकः भय जुगुप्सा च स्त्री-पुंवेदौ ।
षंढो वेदः च तथा नवैते नोकषायाश्च ॥

मणवयणाण पउत्ती सच्चासच्चुभयअणुभयत्थेसु ।
तण्णामं होदि तदा तेहिं दु जोगा हु तज्जोगा ॥ ७ ॥

मनोवचनाना प्रवृत्तिः सत्यासत्योभयानुभयार्थेषु ।
तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगाद्धि तद्योगाः ॥

ओरालं तंमिस्सं वेगुव्वं तस्स मिस्सयं होदि ।
आहारय तंमिस्सं कम्मइयं कायजोगेदे ॥ ८ ॥

औदारिकं तन्मिश्रं वैक्रियिकं तस्य मिश्रकं ।
आहारकं तन्मिश्रं कार्मणकं काययोगा एते ॥

मिच्छे खलु मिच्छत्तं अविरमणं देसंसंजदो त्ति हवे ।
सुहुमो त्ति कसाया पुण सजोगिपरंत जोगा हु ॥ ९ ॥

---

१ अनन्तानुबन्धि । २ इति यावदर्थे ।

३ चदुपच्चइगो मिच्छे बंधो पढमे णंतरतिगे तिपच्चइगो ।
मिस्सगविदियं उवरिमदुग च देसेक्कदेसम्मि ॥ १ ॥
उवरिल्लपंचये पुण दुपच्चया जोगपच्चओ तिण्हं ।
सामण्णपच्चया खलु अट्ठण्हं होंति कम्माणं ॥ २ ॥

मिथ्यात्वे खलु मिथ्यात्वं अविरमणं देशसंयतमिति भवेत् ।
प्रमत्तमिति कषायाः पुनः सयोगिपर्यन्तं योगा हि ॥

मिच्छदुगविरदठाणे मिस्सदुकम्मइयकायजोगा य ।
छट्ठे हारदु केवलिणाहे ओरालमिस्सकम्मइया ॥ १० ॥

मिथ्याद्विकाविरतस्थाने मिश्रद्विककार्मणकाययोगाश्च ।
षष्ठे आहारद्विकं केवलिनाथे औदारिकमिश्रकार्मणौ ॥

पंच चदु सुण्ण सत्त य पण्णर दुग सुण्ण छक्क छक्केक्कं ।
सुण्णं चदु सगसंखा पच्चयविच्छित्ति णायव्वा ॥ ११ ॥

पंच चतुः शून्यं सप्त च पंचदश द्वौ शून्यं षट्कं षट्कैकं एकं ।
शून्यं चतुः सप्तसंख्या प्रत्ययविच्छित्तिः ज्ञातव्या ॥

मिच्छे हारदु सासणसम्मे मिच्छपंचगं णत्थि ।
अण दो मिस्सं कम्मं मिस्से ण चउत्थए सुणह ॥ १२ ॥

मिथ्यात्वे आहारकद्विकं सासादनसम्यक्त्वे मिथ्यात्वपंचकं नास्ति ।
अनं. द्वे मिश्रे कर्म मिश्रे न चतुर्थे शृणुत ॥

दो मिस्स कम्म विरदय तसवह वेगुव्व तस्स मिस्सं च ।
ओरालमिस्स कम्मसपच्चक्खाणं तु ण हि पंचे ॥ १३ ॥

द्वे मिश्रे कर्म विरत, त्रसवधो वैक्रियिकः तस्य मिश्रं च ।
औदारिकमिश्रं कर्माप्रत्याख्यानं तु न हि पंचमे ॥

---

१ अत्र केशववर्णिप्रोक्तगाथा—

पण चदु सुण्णं सत्तय पण्णरस दोण्णि सुण्ण छक्कं च ।
एक्केक्कं दस जाव य एक्कं सुण्णं च चारि सत्त सुण्णं ॥ १ ॥

२ अनिवृत्तिकरणगुणस्थानस्य षड्भागास्तत्र एकैकस्मिन् भागे एकैक आस्रवो व्युच्छिद्यते क्रमेण । ३ अनन्तानुबन्धिचतुष्कं ४ औदारिकवैक्रियिकाख्ये मिश्रे ।

इत्तो उवरिं सगसगविच्छित्तिअणासवाण संजोगे।
उवरुवरिं गुणठाणे होंतित्ति अणासवा णेया ॥ १४ ॥

इतः उपरि स्वस्वविच्छित्त्यास्रवाणां संयोगे।
उपर्युपरि गुणस्थाने भवन्तीति अनास्रवा ज्ञेयाः ॥

मिच्छे पणमिच्छत्तं साणे अणचारि मिस्सगे सुण्णं।
अयदे विदियकसाया तसवह वेगुव्वजुगलछिदी ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वे पचमिथ्यात्व, साने अनचतुष्क मिश्रके, शून्यं,।
अयते द्वितीयकषायाः त्रसवधवैक्रियिकयुगलच्छित्तिः ॥

अविरयएक्कारह तियचउकसाया पमत्तए णत्थि।
अत्थि हु आहारदुगं हारदुगं णत्थि सत्तट्ठे ॥ १६ ॥

अविरत्यैकादश तृतीयचतुष्कषायाः प्रमत्तके न संति।
अस्ति हि आहारद्विकं, आहारद्विकं नास्ति सप्तमे, अष्टमे ॥

छण्णोकसाय णवमे ण हि दसमे संढमहिलपुंवेयं।
कोहो माणो माया ण हि लोहो णत्थि उवसमे खीणे॥१७॥

---

१ अत्र सुखावबोधार्थं केशववर्णिनोक्त गाथापञ्चकमुद्ध्रियते—

मिच्छे पणमिच्छत्तं, पढमकसायं तु सासणे, मिस्से।
सुण्णं, अविरदसम्मे विदियकसायं विगुव्वदुगकम्म ॥ १ ॥
ओरालमिस्स तसवह णवयं, देसम्मि अविरदेक्कारा।
तदियकसायं पण्णरं, पमत्तविरदम्मि हारदुग छेदो ॥ २ ॥
सुण्णं पमादरहिदे, पुव्वे छण्णोकसायवोच्छेदो, ।
अणियट्टिम्मि य कमसो एक्केकं वेदतियकसायतियं, ॥ ३ ॥
सुहमे सुहमो लोहो, सुण्णं उवसंतगेसु, खीणेसु।
अडीगुणसयसगमचउ, जोगिम्मि य सुगह वोच्छत्ति ॥ ४ ॥
सच्चणुभायं वयणं मणं च ओरालकायजोगं च।
ओरालमिस्सकम्मं उभयाणेव सम्भावो, ॥ ५ ॥

पञ्चोत्तरशतात्, गणधरैः 'अष्ट' दशाभिः पञ्चसहितैर्युक्ताः ।
कोऽपि मानी भाषा 'अष्ट' लोयां, शेषाश्च उदयाव, दीनं ॥

अलियसमणवयणसुमयं चिय जिणे अत्थि गणमणुमयं ।
सिग्गोरासिसवस्से अपवयाऽज्जोगिणो होंति ॥ १८ ॥

अर्थात्‌ श्रमणवचनं उभयं आदिनं, जिने अपि गणमनुमतं ।
शिष्योरासिवर्षेण, अत्र यदा अयोगिनो भवन्ति ॥

पणवण्णपणासण्णा गणहरदेवेहिं अविरहिदा सम्मं ।
ते चउदसपुव्विमिस्सा संघादो पंचमंगारे ॥ १९ ॥

पञ्चपञ्चाशत्‌ गणधरदेवैः अविरहिताः सम्यक्‌ ।
ते चतुर्दशपूर्विमिश्राः, सङ्घात्‌ पञ्चमाङ्गारे ॥

पणवण्णं पण्णासं तिदाल छादाल सगतीसा य ।
चउवीस दुवावीसं सोलसमेगूण जाव णव सगा ॥ २० ॥

पञ्चपञ्चाशत्‌ पञ्चाशत्‌ त्रिचत्वारिंशत्‌ षट्चत्वारिंशत्‌ सप्तत्रिंशत्‌ च ।
चतुर्विंशतिः द्वाविंशतिः षोडश एकोनं यावत्‌ नव सप्त ॥

इंगि सग चदुरिगिदसयं वीसं तियपणदुसहियतीसं च ।
इगिसगअडअडदालं पण्णासा होंति गणवण्णा ॥ २१ ॥

१-२ चतुर्विंशतिः इत्यर्थः । ३ सप्तत्रिंशत्‌. । ४ चतुस्त्रिंशते इत्यर्थः ।

५ अत्रान्योक्तगाथाद्वयं यथा—

पणवण्णा पण्णासा तिदाल छादाल सगतीसा य ।
चउवीसा वावीसा बावीसमपुव्वकरणोत्ति ॥ १ ॥
थूले सोलसपहुदी एगूणं जाव होदि दस ठाणं ।
सुहुमादिसु दस णवयं णवयं जोगिम्मि सत्तेव ॥ २ ॥

६ अत्र केषाञ्चिन्मतगाथा—

दोण्णि य सग य चोद्दसगुणे वि पणार वीस तेत्तीसं ।
पणतीस दुगिगिदालं सत्तेतालट्ठदाल हुसु पण्णं ॥ १ ॥

प्रथमनरक-रचना

मि.	सा.	मि.	अ.
५	४	०	८
५१	४४	४०	४२
०	७	११	९

द्वितीयादिनरक-रचना

मि.	सा.	मि.	अ.
७	४	०	६
५१	४४	४०	४०
०	७	११	११

वेगुव्वाहारदुगं ण होइ तिरियेसु सेसतेवण्णा ।
एवं भोगावणिजे संढं विरहिऊण बावण्णा ॥ २९ ॥

वैक्रियिकाहारद्विकं न भवति तिर्यक्षु शेषात्रिपंचाशत् ।
एवं भोगावनीजेषु षंढं विरह्य द्वापंचाशत् ॥

लद्धिअपुण्णतिरिक्खे हारदु मणवयण अट्ट ओरालं ।
वेगुव्वदुगं पुंवेदित्थीवेदं ण बादालं ॥ ३० ॥

लब्ध्यपूर्णतिर्यक्षु आहारकद्विकं मनवचनाष्टकं औदारिकं ।
वैक्रियिकद्विकं पुंवेदस्त्रीवेदौ न द्वाचत्वारिंशत् ॥

कर्मभूमितिर्यग्रचना

मि.	सा.	मि	अ.	दे.
५	४	०	७	१५
५३	४८	४२	४४	३७
०	५	११	९	१६

भोगभूमिजतिर्यग्र

मि	सा	मि.	अ.
५	४	०	७
५२	४७	४१	४२
०	५	११	९

लब्ध्यपर्याप्त

मि.
०
४१
०

मणुवेसु ण वेगुव्वदु पणवण्णं संति तत्थ भोगेसु ।
हारदुगंढविवज्जिद दुवण्णऽपुण्णे अपुण्णे वा ॥३१॥

मनुजेषु न वैक्रियिकद्विकं पंचपंचाशत् सन्ति तत्र भोगेषु ।
आहारद्विकषंढविवर्जितं द्विपंचाशत् अपूर्णे अपूर्णे इव ॥

१ लब्ध्यपर्याप्तमनुष्येषु लब्ध्यपर्याप्ततिर्यग्वज्ज्ञातव्यमित्यर्थः ।

भवनत्रि-कल्पस्त्री । सौधर्मादि-ग्रैवेयकान्त । अनुदिशानु[illegible]

मि.	सा.	मि.	अ.	मि.	सा.	मि.	अ.	अ
५	१	०	१	५	४	०	६	०
४१	४०	४१	४१	५१	४६	४०	४२	४१
०	५	११	११	०	५	११	१	०

इति [illegible] समाप्ता ।

पुंवेदित्थिविगुत्तिग[illegible]रसणगदुदि एयारो ।
मणपगुरुपणगदुदि य रहिदा अडतीस ते भणिदा ॥२[illegible]

[illegible] एकादश ।
[illegible] रहिता अष्टात्रिंशत् भणिता ॥

एदाचे जे उत्ता ते कमसो [illegible]णेहि ।
[illegible] य [illegible] य जुत्ता [illegible] ॥२६॥

[illegible] ते [illegible] क्रमशः [illegible] ।
[illegible] च [illegible] च युक्ता [illegible] ॥

[illegible] णत्थि [illegible] ॥२७॥

[illegible] नास्ति [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] मनुष्य[illegible]

मि	सा	मि	सा	मि	सा	मि	अ
[illegible]	[illegible]	०	०	०	०	०	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
०	[illegible]	०	०		[illegible]	०	०

[illegible]

दर्पेदियदंसणीशालं तमसीयाणं च पयला सव्वं ।
दुर्वीभादियु पंचसु एदिदिय कदिद अरलीणा ॥ २८ ॥

देवेन्द्रियदर्शनावरणानां असंसीनां च प्रचला सर्वे ।
पूर्विभ्यादिषु पंचसु एकेन्द्रियं कथिता अगाखिता ॥

[बन्धीय एवेन्द्रियदर्शनावरणा पुरुषदानवत् । पूर्विकदेवतमनचरित्रेवावचन एवकिद्ववदित्वप्रवदपूर्णीवदुपरयावदत् । तैक्षेन्वराद रचना । एकेन्द्रिय वर्तिन) प्रवदनुबन्धवानवत् ।]

दारदुगं वज्जिया ओगाणं मेरमाणमेगेणं ।
जोणं पुणु पविरयणा मेदाता इदरयोगुणा ॥ २९ ॥

कारणाद्विके वर्जयित्वा योगानां प्रयोदशानां एवैकं ।
यौगं पुनः प्रक्षिप्य त्रियप्तारितम् इतरयोगोना ॥

अप्रात्योऽभयमनोवचन-रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ	वे	प्र.	अ.	अ	अ	१	२	४	५	६	गु.	उ	श्री.
५	४	०	५	१५	०	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	१
४१	२८	१४	२४	२१	१४	१४	१४	८	७	६	५	४	३	२	१	१
०	५	९	९	१४	२९	१९	२९	१५	१६	१०	१८	१९	४०	४१	४१	४२

सत्यानुभयमनोवचनौदारिक-रचना ।

मि.	सा	मि.	अ	दे.	प्र	अ.	अ.	अ	२	३	४	५	६	गु.	उ	श्री.	ग.
५	४	०	५	१५	०	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	०	१
४१	२८	१४	१४	२१	१४	१४	१४	८	७	६	५	४	३	२	१	१	१
०	५	९	९	१४	२९	२९	२९	१५	१६	१७	१८	१९	४०	४१	४२	४२	४२

औरालमिस्से साणे संढत्थीणं च वोच्छिदी होदि ।
वेगुव्वमिस्से साणे इत्थीवेदस्स वोच्छेदो ॥ ४० ॥

औदारिकमिश्रस्य सासादने षंढस्त्रियोश्च व्युच्छित्तिः भवति ।
वैक्रियिकमिश्रस्य सासादने स्त्रीवेदस्य व्युच्छेदः ॥

तेसिं साणे संढं णत्थि हु सो होइ अविरदे ठाणे ।
कम्मइए विदियगुणे इत्थीवेदच्छिदी होइ ॥ ४१ ॥

तेषां सासादने षंढं नास्ति हु स भवति अविरते स्थाने ।
कार्मणे द्वितीयगुणे स्त्रीवेदच्छित्तिः भवति ॥

संजलणं पुवेदं हस्सादीणोकसायछक्कं च ।
णियणियजोगगसहिया बारस आहारगे जुम्मे ॥ ४२ ॥

संज्वलनं पुंवेदं हास्यादिनोकषायषट्कं च ।
निजकयोगसहिता द्वादश आहारके युग्मे ॥

पुंवेदे थीसंढं वज्जिय सेसपयया होंति ।
इत्थीवेदे हारदु पुंसंढं च वज्जिदा सव्वे ॥ ४३ ॥

पुंवेदे स्त्रीषंढाभ्यां वर्जिता शेषप्रकृतयः भवन्ति ।
स्त्रीवेदे आहारद्विकेन पुंषंढाभ्यां च वर्जिताः सर्वे ॥

औदारिकमिश्र-रचना। वैक्रियिक-रचना। तन्मिश्र रचना। आहार०

मि	सा	अ	स
०	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	५	[illegible]	[illegible]

मि	सा	मि	अ.
५	[illegible]	०	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
०	५	[illegible]	[illegible]

मि	सा.	अ
५	५	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]
०	[illegible]	[illegible]

प्र.
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कार्मण रचना।

मि	सा	अ	स
[illegible]	०	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

पुंवेद-रचना।

मि	सा.	मि	अ	दे.	प्र	अ	अ.	अ	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

स्त्रीवेद-रचना ।

मि.	सा.	मि	अ.	दे.	प्र.	अ	अ	अ	१
५	७	०	६	१५	०	०	६	०	१
५३	४८	४१	४१	३५	२०	२०	२०	१४	१४
०	५	११	१२	१८	३३	३३	३३	३९	३९

मिस्सदुकम्मइयतिदी सासणे संढे ण होइ पुरमिच्छी ।
छारदुगं विदियगुणे ओरालियमिस्स वोच्छेदो ॥ ४४ ॥

मिश्रद्विककार्मणस्थितिः सासादने, षंढे न भवत पुम्स्त्रियौ ।
आहारद्विकं द्वितीयगुणे औदारिकमिश्रस्य व्युच्छेदः ॥

तेसिं अवणिय वेगुव्वियमिस्सं अविरदे हु णिक्खेवे ।
कोहचउक्के माणादिबारसहीणा पणदाला ॥ ४५ ॥

तेषां अपनीय वैक्रियिकमिश्रं अविरते हि निक्षिपेत् ।
क्रोधचतुष्के मानादिद्वादशहीनाः पंचचत्वारिंशत् ॥

नपुंसकवेद-रचना ।

मि	सा.	मि	अ	दे.	प्र	अ	अ.	अ
५	५	०	८	१५	०	०	६	१
५३	४७	४१	४३	३५	२०	२०	२०	१४
०	६	१२	१०	१८	३३	३३	३३	३९

क्रोधचतुष्क-रचना ।

मि	सा	मि.	अ.	दे.	प्र	अ	अ	अ	२	३	४
५	१	०	६	१२	०	०	६	१	१	१	१
४३	३८	३४	३७	३१	२१	१९	१९	१३	१२	११	१०
२	७	११	८	१४	२४	२६	२६	३२	३३	३४	३५

१ स्त्रीवेदस्य सासादनगुणस्थाने ।

माणादितिये एवं इदरकसाएहिं विरहिदा जाणे ।
कुमदिकुसुदे ण विज्जदि हारदुगं होंति पणवण्णा ॥ ४६ ॥

मानादित्रिके एवं इतरकषायैः विरहितान् जानीहि ।
कुमतिकुश्रुतयोः न विद्यते आहारद्विकं भवन्ति पंचपंचाशत् ॥

वेभंगे बावण्णा कम्मणमिस्सदुगहारदुगहीणा ।
णाणतिये अडदालं पणमिच्छाचारिअणरहिदा ॥ ४७ ॥

विभंगे द्विपंचाशत् कार्मणमिश्रद्विकाहारद्विकहीनाः ।
ज्ञानत्रिके अष्टचत्वारिंशत् पंचमिथ्यात्वचतुरनरहिताः ॥

कुमतिकुश्रुत ।		विभंग ।	
मि.	सा.	मि	सा.
५	४	५	४
५५	५०	५२	४७
०	५	०	५

सज्ज्ञानत्रय-रचना ।

अ.	दे	प्र.	अ	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ.	क्षी.
९	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४
४६	३७	२४	२१	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९
२	११	२४	२६	२६	३१	३३	३४	३५	३६	३७	३८	३९	३९

मणपज्जे संढित्थीवज्जिदमगणोकसाय संजलणं ।
आदिमणवजोगजुदा पच्चयवीसं मुणेयव्वा ॥ ४८ ॥

मनःपर्यये षंढस्त्रीवर्जितसमनोकषायाः संज्वलनाः ।
आदिमनवयोगयुक्ताः प्रत्ययविंशतिः ज्ञातव्या ॥

ओरालं तंमिस्सं कम्मइयं सच्चअणुभयाणं च ।
मणवयणाण चउक्के केवलणाणे मगं जाणे ॥ ४९ ॥

औदारिकं तन्मिश्रं कार्मणं सत्यानुभयानां च ।
मनोवचनानां चतुष्कं केवलज्ञाने सप्त जानीहि ॥

मनःपर्यय-रचना । केवलज्ञाने-रचना ।

प्र	अ.	अ.	अ	२	३	४	५	६	सू.	उ	क्षी.	स	अ.
०	०	६	०	०	१	१	१	१	१	०	४	०	०
२०	२०	२०	१४	१४	१४	१३	१२	११	१०	९	९	७	०
०	०	०	६	६	६	७	८	९	१०	११	११	०	७

अडमणवयणोरालं हारदुगं णोकसाय संजलणं ।
सामाइयछेदेसु य पउवीसा पच्चया होंति ॥ ५० ॥

अष्टमनोवचनौदारिका आहारद्विकं नोकषाया संजलना ।
सामायिकच्छेदयोश्च चतुर्विंशतिः प्रत्यया भवन्ति ॥

विंसदि परिहारे संढित्थीहारदुगवज्जिया एदे ।
सुहुमे णवआदिमजोगा संजलणलोहजुदा ॥ ५१ ॥

विंशतिः परिहारे षंढस्त्री-आहारद्विकवर्जिता एते ।
सूक्ष्मे नवादिमयोगा संज्वलनलोभयुता ॥

एदे पुण जहखादे कम्मणओरालमिस्ससंजुत्ता ।
संजलणलोहहीणा एगादसपच्चया णेया ॥ ५२ ॥

एते पुनः यथाख्याते कार्मणौदारिकमिश्रसंयुक्ताः ।
संज्वलनलोभहीना एकादशप्रत्यया ज्ञेयाः ॥

तसअसंजमवज्जिया सेसज्जमा णोकसाय देसजमे ।
अट्ठंतिल्लकसाया आदिमणवजोग सगतीसा ॥ ५३ ॥

त्रसासंयमवर्जिताः शेषायमा नोकषाया देशयमे ।
अष्टौ अन्तिमकषाया आदिमनवयोगाः सप्तत्रिंशत् ॥

आहारयदुगरहिया पणवण्ण असंजमे दु चक्खुदुगे ।
सव्वे णाणतिकहिदा अडदाला ओहिदंसणे णेया ॥ ५४

आहारकद्विकरहिताः पंचपंचाशदसंयमे तु, चक्षुर्द्विके।
सर्वे, ज्ञानत्रिककथिता अष्टचत्वारिंशत् अवधिदर्शने ज्ञेयाः॥

सामायिक-छेदोपस्थापना।									परिहार।		सूक्ष्मसांपराय।
प्र.	अ.	अ	अ.	२	३	४	५	६	प्र.	अ.	सू.
२	०	६	१	१	१	१	१	१	०	०	०
२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	२०	२०	१०
०	२	२	८	९	१०	११	१२	१३	०	०	०

यथाख्यात चरित्र।				देशसंयम।	असंयम-रचना।			
उ.	क्षी.	स.	अ	दे.	मि.	सा	मि.	अ.
०	४	७	०	०	५	४	०	१
९	९	७	०	३७	५५	५०	४३	४६
२	२	४	११	०	०	५	१२	९

चक्षुरचक्षुर्दर्शन।

मि.	सा.	मि.	अ.	दे.	प्र	अ	अ.	अ.	२	३	४	५	६	सू.	उ
५	४	०	१	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०
५५	५०	४३	४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
२	०	१४	११	२०	३३	३५	३५	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८

[अवधिदर्शन-रचना-अवधिज्ञानवत् ।]

सगजोगपच्चया खलु केवलणाणव्व केवलालोए ।
किण्हतिए पणवण्णं हारदुगं वज्जिऊण हवे ॥ ५५ ॥

सयोगप्रत्यया खलु केवलज्ञानवत् केवलालोके ।
कृष्णत्रिके पंचपंचाशत् आहारद्विकं वर्जयित्वा भवेत् ॥

किण्हदुगाणे वेगुव्वियमिस्साहिदी हवेइ तेउतिए ।
मिच्छदुगाणे ओरालियमिस्सो णत्थि अविरदे अत्थि ॥

कृष्णद्विकसासादने वैक्रियिकमिश्रं [illegible] भवेत् तेजस्त्रिके
मिथ्यात्वद्विकस्थाने औदारिकमिश्रं नास्ति अविरतेऽस्ति ॥

[केवलदर्शन रचना केवलज्ञानवत् ।]

कृष्णनील-रचना । कापोतरचना पीतपद्म-रचना

मि	सा	मि	अ.	मि	सा	मि	अ	मि	सा	मि	अ	दे
५	५	०	८	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५५	५०	४३	४५	५०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
०	५	१२	१०	०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

सुहलेस्सतिये भव्वे सव्वेऽभव्वे ण होदि हारदुगं ।
पणवण्णुवसमसम्मे ते मिस्सोरालमिस्सअणरहिदा ॥

शुभलेश्यात्रिके भव्ये सर्वे अभव्ये न भवत्याहारकद्विकं ।
पंचपंचाशदुपशमसम्यक्त्वे ते मिश्रौदारिकमिश्रानरहिता [illegible]

[शुक्ललेश्या भव्यमार्गणा-रचना गुणस्थानवत्]

उपशमसम्यक्त्व रचना ।

अ	दे	प्र	अ	अ	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
८	१५	८	०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
४५	३०	२०	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
०	८	२३	१२	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]

एदे वेदगखइए हारदुओरालमिस्ससंजुत्ता ।
मिच्छे सासण मिस्से सगगुणठाणव्व णायव्वा ॥ ५८

एते वेदकक्षायिकयो आहारद्विकौदारिकमिश्रसंयुक्ताः ।
मिथ्यात्वे सासादने मिश्रे स्वकगुणस्थानवज्ज्ञातव्या ॥

वेदक-सम्यक्त्व । मिश्या, सासा, मिश्र।

अ	दे.	प्र.	अ.		मि.	सा.	मि
१	१५	२	०	[क्षायिक-रचना गुणस्थानवत् ।]	०	०	०
४६	३७	२४	२२		५५	५०	४३
२	११	२४	२६		०	०	०

सण्णिस्स होंति सयला वेगुव्वाहारदुगमसण्णिस्स ।
चदुमणमादितिवयणं अणिंदियं णत्थि पणदाला ॥ ५९ ॥
संज्ञिनः भवन्ति सकला वैक्रियिकाहारद्विकमसंज्ञिनः ।
चतुर्मनांसि आदित्रिवचनानि अनिन्द्रियं न संति पंचचत्वारिंशत् ॥

संज्ञि-रचना ।

मि.	सा.	मि.	अ	दे.	प्र.	अ.	अ.	अ	२	३	४	५	६	स.	उ.	क्षी.
५	४	०	१	१५	२	०	६	१	१	१	१	१	१	१	०	४
५५	५०	४३	४६	३७	२४	२२	२२	१६	१५	१४	१३	१२	११	१०	९	९
२	७	१४	११	२०	३३	३५	३७	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९

असंज्ञि-रचना ।

मि.	सा.
८	४
४५	३६
०	७

कम्मइयं वज्जित्ता छपण्णासा हवंति आहारे ।
तेदाला णाहारे कम्मंइयरजोगपरिहीणा ॥ ६० ॥
कार्मणं वर्जयित्वा षट्पंचाशद्भवन्त्याहारे ।
त्रिचत्वारिंशदनाहारे कार्मणेतरयोगपरिहीनाः ॥

---

१ कार्मणं विहाय इतरैः चतुर्दशयोगैर्हीना इत्यर्थः ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इदं [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] सुदर्शनिका [illegible] [illegible]

इति [illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] वा कालिंदी [illegible] ॥ ६० ॥

[illegible]

[illegible] ॥

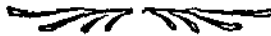
इति [illegible] ।

इति श्री-[illegible]-[illegible] समाप्ता ।

[illegible] पुस्तक [illegible] ।

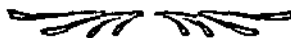
समाप्तोऽयं भावसंग्रहादि ग्रन्थः ।

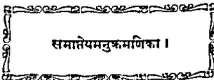
प्राकृत-भावसंग्रहस्य वर्णानुक्रमणिका।



इति गाथा-सूची।

संस्कृतभावसंग्रहस्याकाराद्यनुक्रमणिका।





समाप्तेयमनुक्रमणिका ।

उद्धृतवचनानां सूची।



	प्रा० पृष्ठ संख्या.	सं० पृष्ठ संख्या
आयन्तमलिनो	६	१५१
अरण्ये निर्जले	७	१५२
अविरयगम्मा	+	१५३
अकाशगामिनो	१४	१५६
आत्मा नदी संयम	६	१५३
आगोपालादि यत्	१४	१५६
चत्तारि वारमुव	+	२१८
जले विष्णुः स्थले	११	१५५
देहास्थिका देह	४२	+
तिलसर्षपमात्रं	१४	१५६
न हि हिंसाकृते	१४	+
नाभि स्थाने वसेद्	१३	१५५
नासाग्रे च शिवं	१३	१५५
ब्राह्मणः क्षत्रियो	+	१०६
मत्स्यकूर्मौ वराहश्च	११	+
" "		+
मनः समर्थाधिगमे	+	१९२
मोक्षं तु दोषिदं	१४	+
यदसौ नरके	७	१५२
यावज्जीवेत्	४३	+
स्थावरा जंगमा	१४	+

समाप्तेयं सूची।



अशुद्धयः	शुद्धयः	पंक्तिः	पृष्ठम्
प्रमन्नोऽर्मा	प्रमत्रमा (इत्यनेन भाव्यं)	१९	१५३
बन्याः	वन्याः	४	१६६
गता	गताः	१३	१६६
सारा्ष्ट्री	मंराष्ट्रा	२७	१६८
लिंग	लिंगं	२०	१७३
दनागारा	दनगारा	१८	१७५
लक्षणः	लक्षणो	१७	१८८
६६४	३६४	२१	१८९
वेद्या पराङ्गना चौर्य	वेश्यापराङ्गनाचौर्य	१२	१९४
सत्यच	सत्यंच	१८	१९८
अधिकापाक	अधिका पाक	१०	२०१
आर्तैरार्द	आर्त्तरौद्रं	१६	२०४
(ति)	०	४	२०४
सजम	संजम	१७	२१८
पद्ममधुकरः	पद्मप्रकरमधुकरः	१४	२८८
चदुतिगदुग	चदुदुगतिग	३	२३७
पुवेदे	पुंवेदे	५	२४६
८	२८	अनि०	२५४
बालेन्दः	बालेन्दुः	१८	२६३
